Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 25, अंक 2
जुलाई, 2011

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 25 अंक 2

जुलाई, 2011

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 50/–

संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 1000/–

संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1.	व्यक्तिभाव	*मुकुन्द लाठ*	5
2.	विट्गेन्टस्टाइन की अद्वैत–दृष्टि	*रवीन्द्र के. एस. चौधरी*	72
3.	इतिहास, सभ्यता अध्ययन और गाँधी का हिन्द स्वराज	*आनन्द मिश्र*	91
4.	तुलनात्मक धर्म–दर्शन के उन्नायक आचार्य *प्रोफ़ेसर के. सच्चिदानन्द मूर्ति*	*अशोक वोहरा*	104
5.	भारत–भारती के प्रतिसंस्कर्त्ता *प्रोफ़ेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे*	*यशदेव शल्य*	117

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यक्तिभाव

मुकुन्द लाठ

मेरी चेष्टा यहां मनुष्य के व्यक्तिभाव को समझने की है। पर यह जो मैंने कहा इसमें निहित या ऊह्य है कि व्यक्तिभाव मनुष्य के बाहर भी होता है। मनुष्य के व्यक्तिभाव को आंतर संरचना या अंतःसूत्रों के गुंफ–विशेष के रूप में देखा–समझा जा सकता है। ऐसा गुंफ जो अवयवी का रूप लेता है, पर जो सिद्ध उतना नहीं जितना साध्य होता है। उसमें साध्यता का ऐसा आयाम होता है जो गुंफ के परे एक असीम अगाध की ओर इंगित करता है। इस बात पर अपनी तरह से आऊँगा। पर यहां यह सोचिये कि अवयवी मात्र में ऐसा गुंफ नहीं होता जिसे अंतःगुंफ कहा जा सके। सामने पेड़ पर बैठी चिड़िया को लीजिये, या पेड़ को ही लीजिये, इनमें किसी स्वतंत्र और लक्षणीय अन्तस की बात सार्थक नहीं होगी। इन दोनों को अवयवी कहने में संकोच नहीं होना चाहिये। उनके रूप को अवयवों में बाँटा जा सकता है, और उन अवयवों में एक ऐसी संहति है जो अवयवी की ओर इंगित करती है। अवयवी के बिना अवयव–संहति की कल्पना नहीं की जा सकती। हम चिड़िया को अवयवी के रूप में ही देखते हैं।

कहा जाता है कि दिखते अवयव ही हैं, अवयवी नहीं दिखता। पर पेड़ में या चिड़िया में अवयवी का बोध स्पष्ट होता है। इससे निष्कर्ष यही निकालना चाहिये कि दिखना (या इन्द्रिय–बोध) ही सत् का प्रमाण नहीं है। यह नहीं कि जो 'दिखता नहीं' वह 'है भी' नहीं, हालांकि दर्शन की परंपरा में इन्द्रिय–प्रमाण की एकछत्र–सी महिमा भी 'देखने' को मिलती है। पर इन्द्रिय को सत् का प्रमाण मानने में मूलगत समस्या है। प्रमाण–बोध आत्मचेतन होता है, अपने पर विचार करता है, अपने को जाँचता है, अपने पर संशय कर सकता है। अपने–को–देखती चेतना में पलता है। पर देखती–हुई इन्द्रिय स्वयं इन्द्रिय को नहीं दिखती, इन्द्रिय–बोध में अपने आप में कोई प्रमाण–बोध नहीं होता। इन्द्रिय का बोध आत्मवीक्षक आत्मचेतना को समर्पित हो कर ही प्रमा–अप्रमा की कोटि में आता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्द्रिय–बोध को जो अतीन्द्रिय कहा गया है (नैयायिकों ने ऐसा कहा है), उसका यही अर्थ समझना चाहिये कि इन्द्रिय वीक्षक–चेतना–गम्य होती है, स्वयं को गम्य नहीं होती। यों तो नैयायिक भी इन्द्रिय–बोध को (इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को) ही आधारगत प्रमाण मानते हैं। पर फिर इन्द्रिय को अतीन्द्रिय कहने का तात्पर्य क्या? इन्द्रिय तो अपने आप को अतीन्द्रिय नहीं ठहरा सकती। जो वीक्षक–बोध इन्द्रिय–बोध का प्रत्यक्ष करता है और उसके स्वरूप को जाँचता है, वही इन्द्रिय–बोध को अतीन्द्रिय ठहराता है। सच पूछिये तो अतीन्द्रियत्व उसी में होता है। इन्द्रियां तो बस अपने संकेत उसे समर्पित करती हैं, वही उन संकेतों का अर्थ करता है। इन्द्रिय–गम्य वस्तुबोध उसे ही होता है। यही नहीं कि 'इन्द्रियों ने क्या देखा', बल्कि इससे बढ़ कर इन्द्रिय–बोध का दायरा क्या है, उस दायरे को कैसे, कहां तक आँका जाये, यह भी वीक्षक–बोध ही जाँचता–ठहराता है। बड़ा प्रत्यक्ष, अपरोक्ष होता है यह वीक्षक–बोध, क्योंकि अपने आप को देखता चलता है। उसे अनुमान तो नहीं कह सकते। वह किसी लिङ्ग या हेतु द्वारा साध्य नहीं होता, अनुमेय नहीं होता। उलटे, किसी प्रत्यक्ष के प्रत्यक्षत्व का साक्षात्कार भी उसी बोध में होता है, इन्द्रिय–बोध का भी। हां, हम यह कह सकते हैं कि कितना बोध इन्द्रिय का है कितना नहीं, इस जाँच में अनुमान का काम हो सकता है, पर वीक्षक–बोध के प्रत्यक्ष के लिये ऐसे किसी अनुमान की आवश्यकता नहीं होती। वह बोध तो अपने आप को देखता–जाँचता बोध होता है, अनुमान भी वही करता है, फिर उसे जाँचता है। वीक्षक–बोध में ही विचार–बोध पलता है, और विचार भी, प्रकट ही, अपना वीक्षण करता चलता है। हम वीक्षक–बोध को विचार–बोध भी कहें तो अनुपयुक्त नहीं होगा क्योंकि वीक्षक–बोध विचार में ही अपने को प्रकट करता है। विशुद्ध वीक्षक तो विचार के परे एक संकेत सा होता है।

अब, नैयायिक जिस भी अर्थ में इन्द्रिय को अतीन्द्रिय मानते हों, मैं समझता हूं कि इन्द्रिय–बोध की अतीन्द्रियता मानने में यह गहरा इंगित निहित है कि इन्द्रियों के माध्यम से हमें जो बोध होता है उसका स्वरूप, उसका अर्थ, इन्द्रिय से परे हमारी आत्मचेतना के आत्मवीक्षण में ही जागता है। इन्द्रिय–बोध के प्रमा–अप्रमा होने का बोध भी इसी आत्म–वीक्षण–करते बोध में रूप लेता है। और स्पष्ट ही यह बोध 'मेरा' नहीं होता, सामान्य होता है, तभी भाषा और विचार का रूप लेता है। और तभी ऐसा होता है कि मैं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्द्रियों से कुछ देखता हूं तो देखने की सच्चाई के लिये दूसरे का समर्थन ढूंढता पाया जाता हूं, क्योंकि मेरे देखने के अध्यवसाय का प्रमाण उस वीक्षक चेतना में होता है जो सामान्य होती है। दूसरे को दिखने योग्य होती हुई भी मेरी देखी वस्तु उसे न दिख रही हो तो मुझे अपने देखने पर संशय होगा। हम आत्मचेतन हैं, हमारी चेतना आत्मवीक्षक चेतना है इसीलिये हम इन्द्रिय ने क्या देखा यह अध्यवसाय कर सकते हैं। विचार–करता सामान्य वीक्षक–बोध ही अध्यवसाय करता है।

पर हम अवयवी का भी अध्यवसाय ही करते हैं। और यह अध्यवसाय अनुमेय का नहीं प्रत्यक्ष का होता है। तभी चिड़िया को देख कर हम अवयवों और उनके विन्यास विशेष के आधार पर यह अनुमान नहीं करते कि 'चिड़िया है', पर ऐसा कहते हुए हम चिड़िया का अवयवी के रूप में साक्षात् बोध करते हैं। उसके अवयव–संघात को प्रत्यक्ष अवयवी में बनते संस्थान के रूप में देखते हैं।

साक्षात् बोध के इस रूप को हम 'अवयवी–बोध' की संज्ञा दे सकते हैं। अपने अवयवी–बोध में हम थोड़ा उतरें तो हम यह भी अनुभव करते हैं कि अवयवी इन्द्रियों से दिखता नहीं है। तो भी हमारा बोध अवयवी का साक्षात् करता है, यह भी हम अनुभव करते हैं। तभी हमें चिड़िया को अवयवी के रूप में देखते हुए उसमें अवयव दिखते हैं। पंख, पाँव, चोंच... इन्हें हम देखते ही नहीं हैं, अवयव के रूप में देखते हैं, और इस 'देखने' को इन्द्रिय–गम्य मानते हैं। साफ ही, अवयवों को अवयव के रूप में देखना अवयवी–बोध को ऊह्य रखता है, और यह अवयवी–बोध इन्द्रिय–बोध न होते हुए भी साक्षात् बोध होता है, प्रत्यक्ष होता है, अनुमान नहीं, और न किसी भी अर्थ में आरोप या आहार्य।

प्रश्न हो सकता है कि इन्द्रिय को 'अवयव' भी सचमुच दिखते हैं क्या? कहा जा सकता है कि इन्द्रिय को अवयव नहीं दिखते, क्योंकि अवयव का बोध अवयवी–बोध को ऊह्य रखता है और अवयवी–बोध को कल्पना ही कहा जा सकता है, प्रत्यक्ष नहीं। अवयवी की कल्पना ही इन्द्रिय–बोध में अवयव–दृष्टि को ला पिरोती है, अन्यथा अवयव जैसा कुछ दिखता नहीं है। अवयव जैसे 'कुछ' के वास्तव होने की बात अर्थ–शून्य है, क्योंकि देखने का काम इन्द्रिय का है और इन्द्रिय को अवयवी नहीं दिखता तो अवयव के दिखने की बात भी कल्पना ही ठहरती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहां स्पष्ट ही अवयवी–बोध से इनकार किया जा रहा है, उस बोध के सत्–ग्राही होने का आमूल निराकरण किया जा रहा है। पर ऐसे कथन के पीछे इन्द्रियों को क्या दिखता है, इसका एक विमर्श–में–बसा दर्शन काम कर रहा है। अब, यहां साफ ही मूल प्रश्न यह है कि इन्द्रियों को अपने आप में दिखता क्या है?

हम अभी कह चुके हैं कि आत्मचेतन वीक्षक–बोध के बिना इन्द्रिय को अपने आप में क्या दिखता है, इसकी चर्चा ही नहीं की जा सकती। इन्द्रियां अध्यवसाय नहीं करतीं। इसलिये इन्द्रियों को क्या दिखता है, इस प्रश्न का उत्तर इन्द्रियां नहीं दे सकतीं। तभी इन्द्रिय–बोध को अतीन्द्रिय कहना युक्त ठहरता है। तो, अगर साक्षात्–करती इन्द्रिय का बोध क्या है, यह इन्द्रिय नहीं ठहरा सकती (अगर इस अर्थ में इन्द्रिय–बोध अतीन्द्रिय है) तो इन्द्रिय को अपने आप में क्या दिखता है इसकी चर्चा भी अतीन्द्रिय बोध में ही हो सकती है। उस वीक्षक–बोध में जो विचार–बोध का रूप लेता है। हम कह भी आये हैं कि यही बोध इन्द्रिय को क्या दिखा, इसकी ही चर्चा नहीं करता, इन्द्रिय–बोध का स्वरूप क्या है, वह भी यही विचार–बोध ठहराता है। हम पाते हैं कि 'अवयवी नहीं दिखते', ऐसा अध्यवसाय भी यही विचार–बोध करता है। पर यही बोध साथ ही यह भी कहता है कि 'अवयव दिखते हैं'। अब, अवयवी के बिना अवयव की बात नहीं की जा सकती और यह कथन एक शाब्दिक या तार्किक युक्ति या आरोप मात्र नहीं है। बस इतना ही नहीं कहा जा रहा कि 'अवयव' की बात करते ही 'अवयवी' तो स्वतः (तर्कतः) आक्षिप्त हो जाता है। बात यह है कि अवयव हम देखते हैं, अवयव के देखने को इन्द्रिय–बोध के दायरे में रखते हैं। अवयव को हम अवयव के रूप में ही देखते हैं (चिड़िया के पंख, चोंच, टाँगें, पंजे...)। प्रश्न यहां यह होता है कि क्या अवयवी भी उसी तरह दिखता है? स्पष्ट ही उसी तरह नहीं दिखता– इन्द्रिय को नहीं दिखता। पर हमें अवयवी का बोध होता है, और साक्षात् बोध होता है। थोड़ा भी सोचिये तो स्पष्ट है कि अवयवी के किसी अपरोक्ष बोध के साथ ही अवयव दिखता है, वह बोध न हो तो नहीं दिखता– हम चिड़िया में अवयव देखते हैं, मिट्टी या पत्थर के ढेले में नहीं देखते। पर हम अवयवी देखते हैं तो उसका साक्षात् करते हैं, उसका अनुमान नहीं करते। अवयवी के दिखने को अनुमान कहने का कोई सूत्र नहीं बनता। किसी भी साक्षात्–बोध को अनुमान कहना अटपटा ही नहीं, सर्वथा विषम लगेगा कि अनुमेय साक्षात् नहीं होता, पर अवयवी होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो हम यहां अवयवी–बोध को एक स्वतन्त्र साक्षात् बोध के रूप में सामने रखना चाह रहे हैं। यही सोच कर हमने (अभी ऊपर) अवयवी–बोध को वस्तु–का–साक्षात्–करते बोध के एक प्रकार के रूप में देखने की चेष्टा की है। पर, कहना न होगा, कि विचार में अवयवी–बोध के निराकरण की दिशा भी प्रबल और गहरी है। हमने यह कहा कि इन्द्रिय मूक होती है। हमारा वीक्षक–बोध ही इन्द्रियों से संकेत लेता है, फिर इन्द्रिय–गम्य क्या है इसका अध्यवसाय करता है, अध्यवसित का लक्षण करने की ओर भी उन्मुख होता है– फिर संशय, समाधान, प्रतिपत्तियां, इनकी शृंखला चल पड़ती है। तभी इन्द्रिय–बोध को (और इन्द्रिय के उस धर्म को जिसे हमने 'मूकत्व' कहा) उसे बिलकुल और तरह से भी समझा–परखा जा सकता है। ऐसा किया ही गया है। विचार की एक परिचित दिशा इन्द्रिय–बोध को अनभिलाप्य ठहराती है, यों इन्द्रिय को क्या दिखा, इसे स्वरूपतः शब्द और विचार के दायरे से परे रखती है– केवल इसी अर्थ में नहीं कि इन्द्रिय कुछ नहीं कहती, पर इससे भी आगे बढ़ कर इस अर्थ में कि इन्द्रिय को जो दिखा उसके बारे में हमारी शब्दमयी विचार–वृत्ति भी वास्तव में कुछ नहीं कह सकती। तात्पर्य यह कि हमारे विचार–करते वीक्षक–बोध का स्वरूप इन्द्रिय–बोध के स्वरूप से बिलकुल भिन्न है। इन्द्रिय को सत् का साक्षात् होता है, पर हमारा विचार–बोध इन्द्रिय–बोध को ग्रहण कर उसे अपने स्वरूप में ढाल लेता है और उसे विकृत कर देता है। इन्द्रिय–बोध को समझने की इस दृष्टि में भी इन्द्रिय अपना बोध वीक्षकवृत्ति या विचार–वृत्ति को समर्पित करती है, पर वह वृत्ति उसका सम्यक् ग्रहण नहीं करती, उसे स्वरूप–च्युत कर देती है। पर, स्पष्ट ही, इन्द्रिय–बोध से विचार–बोध को नितांत भिन्न मानते हुए भी यह दृष्टि ऐसा नहीं कहती कि विचार–बोध का इन्द्रिय–बोध से कोई संपर्क नहीं होता (ऐसा होता तो इन्द्रिय–प्रत्यक्ष जैसा कुछ है इसकी अवगति और बात ही नहीं हो सकती थी)। पर बोध की इन दोनों वृत्तियों का स्वरूप परस्पर–भिन्न ही नहीं, इतना परस्पर–विषम है कि विचार–बोध इन्द्रिय–बोध को अपने रूप में ढालता है तो उसे विकृत ही नहीं कर देता, उसके सत्य को झुठला देता है। क्योंकि सत्य का बोध इन्द्रिय को ही होता है, विचार–चेतना को नहीं।

हम विचार की यह दिशा लें तो फिर हमें इन्द्रियों से दिखता क्या है, इसकी बात करने का ही कोई अर्थ नहीं रह जाता (इन्द्रिय–गम्य के बारे में हमें मूक ही रहना चाहिये)। क्योंकि 'क्या दिखा' इसका अध्यवसाय तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्द्रियां नहीं, विचार–बोध ही करता है। अब, इन्द्रियों को 'अभिलाप्य कुछ' के दिखने का अगर प्रश्न ही नहीं उठता तो 'अवयव' जैसा कुछ भी नहीं दिख सकता। अवयव का बोध उस अध्यवसाय में प्रतिष्ठ बोध है जो इन्द्रिय–संकेत के आधार पर विचार–चेतना में जागता है, उस चेतना में जो शब्दों में सोचती है, जगत् को नाम–रूपमय देखती है। अनभिलाप्यवाद की दृष्टि में इसी विचार–चेतना को 'विकल्प–मयी' कहा जाता है। अध्यवसाय का रूप लेता शब्दमय 'विकल्प' इन्द्रिय–बोध के स्वरूप को 'अनिन्द्रिय' कर देता है– उसे इन्द्रिय–प्रत्यक्ष से विच्छिन्न एक अपनी अलग, स्वतंत्र योजना–बुनते विचार–प्रपंच का अंग बना देता है। यही उसे झुठला देना है। क्योंकि विकल्प जो प्रपंच बुनता है, वह उसकी अपनी ही कल्पना होता है, सत्य नहीं। यों 'झुठला देने' का यहां अभिप्राय गहरा है। क्योंकि हम पाते हैं यह दृष्टि एक तात्त्विक बोध–द्वैत की दृष्टि है जो इन्द्रिय–बोध को मूक मानते हुए भी वस्तु–सत् का बोध समझती है, और विकल्प को उस बोध का मिथ्याकरण।

तो, इन्द्रिय–बोध को अनभिलाप्य कहने का अंतर्गर्भ आशय यह है कि वस्तु–जगत् से सीधा संपर्क इन्द्रियों का ही होता है, इसलिये वस्तु का सत्–स्वरूप इन्द्रिय को ही गम्य होता है, शब्द–चेतना या विचार–चेतना को नहीं। पर हमारी चेतना में वह इन्द्रिय–गम्य सत् विकल्प का रूप ले कर ही भासित होता है। तभी हमारी 'अभिलाप–करती' शब्द–चेतना इन्द्रिय–बोध के सत् को अपनी अनिन्द्रिय मिथ्या–दृष्टि का विषय बना देती है, यों उसे झुठला देती है। कारण यह कि शब्द का (विकल्प का) सत् से संबंध ही नहीं। वह कल्पना का मिथ्या जगत् बुनता है, जो इन्द्रिय–बोध के वास्तव जगत् से स्वरूपेण भिन्न–विच्छिन्न होता है। पर हम रहते–जीते शब्द–से–बुने विकल्पमय जगत् में ही हैं। तो, हमारी स्थिति यह है कि हम वास्तव जगत् से दूर छिटक कर रहते कल्पना के प्रपंच में हैं। इन्द्रिय–ग्राह्य सत्य को मिथ्या करते हुए एक माया–लोक में विचरते हैं जो हमारी ही विकल्प–चेतना का रचा हुआ इंद्रजाल है। पर यही हमारे व्यवहार का जगत् है। इस जगत् का मूल हमारी विकल्प–चेतना में निहित मिथ्या–दृष्टि है जिसका आधार हमारी जीव–चेतना में बसी एक अगाध अविद्या है जो वासना को जन्म देती है, और यह वासना अपने मिथ्या कल्पना–जाल के योजना–व्यूह में हमें निमग्न और मूढ रखती है। हमारे व्यवहार का जगत्– हमारे रहने–सहने का संसार, हमारे नाम–रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का, सोचने–समझने का संसार जिसे हम सहज ही सत् समझते हैं, वह संसार हमारी वासना का जगत् है। हमारे जीव–भाव के मूल में रहती हुई अविद्या (मिथ्यादृष्टि) द्वारा सृष्ट है। हमारी कल्पना को प्रेरित करती हुई अविद्या–जन्य वासना हमारे लिये मिथ्या जगत् रचती है, और हमें सत्य से अनजान रखती हुई, इस मिथ्या में लिप्त रखती है, बाँध लेती है।

विकल्प के विपरीत इन्द्रिय को वस्तु के स्वरूप का सच्चा अपरोक्ष बोध होता है, पर उसे हम जान नहीं पाते क्योंकि हमारा जानना विकल्प में होता है।

निष्कर्ष यह कि हमारी वासना–जात मिथ्या शब्द–चेतना (विकल्प–चेतना) हमें इन्द्रिय–प्रत्यक्ष सत् के बोध से वंचित ही नहीं रखती, बल्कि उसे झुठला कर हमारे लिये शब्द–विद्ध, विचार–विद्ध कल्पना–जगत् खड़ा करती है, जिसमें हम व्यवहार करते हैं, जीते हैं, और जिसे हम दृष्टि–मोह के कारण सच मान बैठते हैं।

इन्द्रिय–बोध को अनभिलाप्य कहने के मूल में यही गभीर और व्यापक दर्शन है। यह दर्शन इन्द्रिय–बोध का एक लक्षण भी करता है– उसे 'स्वलक्षण' कहता है। प्रश्न होगा, स्वलक्षण क्या? साफ ही स्वलक्षण सत् है, पर वह अनभिलाप्य है तो उसका विधिपरक लक्षण नहीं किया जा सकता– वह 'जो है सो है'– वह क्या है, यह अभिलाप द्वारा नहीं बताया जा सकता। फिर भी उसे 'निर्विकल्प' कह कर निषेध के द्वारा उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। बल्कि यह कहना चाहिये कि उसे व्यंजित किया जा सकता है– क्योंकि इन्द्रिय–बोध में जागता स्वलक्षण विकल्प का अभाव मात्र नहीं है, उसका अपना स्वतंत्र ग्राह्य सत् स्वरूप भी है जिसका इन्द्रिय द्वारा सम्यक् ग्रहण किया जाता है। पर यह स्वरूप आधारगत रूप से विकल्प के विपरीत है। अब, अभिलाप या शब्द–बोध का लक्षण यह है कि अभिलाप सामान्यों में होता है। शब्द का संकेत ही सामान्य होता है। हमारा विचार–जगत् ही नहीं, हमारा व्यवहार–जगत् भी सामान्यों से बुना होता है। पर इन्द्रिय को सामान्य का नहीं, सामान्य के विपरीत विशेष का बोध होता है। इसीलिये इन्द्रिय–बोध का अभिलाप संभव नहीं। अभिलाप का (विकल्प या विचार मात्र का) स्वरूप ही ऐसा है कि वह शब्दमय होते हुए सामान्यों में ही संभव है, विशेष का वह ग्रहण ही नहीं कर सकता। इन्द्रिय ऐसा ग्रहण करती है।

पर कहना न होगा कि 'स्वलक्षण' भी अपने आप में एक प्रत्यय ही है– सामान्य–परक विकल्प है। इसे तो विकल्प की तरह ही समझना होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो, हमें इसके अर्थ में थोड़ा और उतर कर इसे देखना चाहिये। 'इन्द्रिय को स्वलक्षण–बोध होता है', यह कहने का क्या आशय बनता है? स्पष्ट ही, आशय यह बनता है कि इन्द्रिय को ऐसा बोध होता है 'जो अपना लक्षण आप है' ('विशेष' भी ऐसा ही होता है), और इसलिये, 'इस बोध का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता' या 'इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता'। पर 'अपना लक्षण आप', इसे समझने के लिये यहां विचार दो दिशायें ले सकता है। इन्द्रिय–बोध को 'स्वलक्षण' कहने का एक अर्थ यह किया जा सकता है कि इन्द्रिय–बोध 'अपना ही लक्षण आप' इसलिये है कि इन्द्रिय–बोध में बोध से बाहर ऐसा कुछ नहीं होता जिसे इन्द्रिय–बोध से स्वतन्त्र–स्थित कहा जा सके। दूसरा अर्थ अधिक सहज जान पड़ सकता है और यह उभरता है कि इन्द्रिय को जिस स्वलक्षण का बोध होता है, वह इन्द्रिय से बाहर होता है, इन्द्रिय–बोध से स्वतन्त्र, अपने आप में सत् होता है। वह स्वतंत्र सत् स्वलक्षण इसलिये है कि विकल्प–विचार में उसका लक्षण नहीं किया जा सकता, और इसी अर्थ में वह 'विशेष' है।

अब, प्रकट ही, स्वलक्षण पर विचार की पहली दिशा इन्द्रिय–बोध को आत्म–पर्यवसित कह रही है। इस बोध में जो भासित होता है वह इन्द्रिय–बोध के बाहर कुछ नहीं होता, इन्द्रिय–बोध में ही जागता आभास होता है। पर इन्द्रिय–बोध में जो भासित होता है वह अगर इन्द्रिय–बोध में ही जन्म लेता है तो वह उस बोध का आक्षेप भी हो सकता है। तो फिर हम चाहें तो इससे यह अर्थ निकाल सकते हैं कि इन्द्रिय–बोध में जो भासित होता है वह इन्द्रिय की अपनी 'कल्पना' है– इन्द्रिय–सृष्ट है इसीलिये इन्द्रिय–दृष्ट है, चाहे वह कल्पना स्वलक्षण विशेष का रूप लेती हुई अनभिलाप्य ही क्यों न हो। पर फिर उसे अपने आप में सत् कैसे कहा जाये?

साफ ही, यह बात अनभिलाप्यवादी दृष्टि को स्वीकार्य नहीं होगी, क्योंकि इन्द्रिय–गम्य स्वलक्षण सत् को इन्द्रिय–पर्यवसित मानने में उसके सत् स्वरूप का निषेध छुपा दिख सकता है। पर इन्द्रिय–पर्यवसाय की बात को सहज ही टाला नहीं जा सकता है क्योंकि इन्द्रिय–बोध अगर अनभिलाप्य है तो उसके बारे में हम कल्पना ही कर सकते हैं, और उस बोध को आत्म–पर्यवसित कहना न अल्कपनीय है, न अयुक्त। बल्कि हम आगे बढ़ते हुए यहां तक कह सकते हैं कि इन्द्रिय–बोध में जिस विशेष की बात की जा रही है वह भी इन्द्रिय–दृष्ट इसीलिये है कि इन्द्रिय–सृष्ट है, अपने आप में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत् जैसा कुछ नहीं, वह उसी तरह कल्पना है जैसे व्यवहार का विकल्प–जगत् कल्पना है। दोनों ही वासना की कल्पना हैं। यों भी इन्द्रिय को अवासना–जन्य कहने का क्या कारण हो सकता है? इन्द्रियां देखती ही नहीं, भोग करती हैं, वासना–लिप्ति का द्वार होती हैं। तो फिर इन्द्रिय–दृष्ट स्वलक्षण को हम वासना–जन्य विकल्प की ही कल्पना में शामिल कर ले सकते हैं। यों भी विशुद्ध 'विशेष' को तो हम विकल्प या प्रत्यय के रूप में ही भाँप सकते हैं, उसका वैसा बोध तो हमें होता नहीं जिसे हम प्रत्यक्ष कह सकें। विशेष के बोध को इन्द्रिय–प्रत्यक्ष का विषय कहना और फिर उस बोध की वस्तु–बोध के रूप में कल्पना करना तो हमारे बोध में जागते साक्षात् का नहीं, विशुद्ध विचार का लक्षण ठहरता दीखता है। पर बात को हम यहां तक खींच ले आयें तो फिर इन्द्रिय–बोध शब्द–बोध में ही अपचित हो जाता दीखेगा, इन्द्रिय–बोध और विकल्प–बोध में कोई अंतर नहीं रहेगा।

ऐसा कोई भी विमर्श इन्द्रिय–बोध को 'स्वलक्षण–बोध' कहनेवालों को अभिप्रेत नहीं हो सकता।

तो, 'स्वलक्षण–बोध' का अर्थ 'स्वलक्षण का बोध' ही समझा जाना चाहिये। आशय यह कि इन्द्रिय को अपने से बाहर ही ऐसे सत् का बोध होता है जिसका कोई लक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि लक्षण करना ही हमें इन्द्रिय–शत्रु विकल्प के पेटे में ले जाता है– विशेष को सामान्य में खींच लाता है, और यों अपने कल्पना–जाल के प्रपंच में अपचित कर लेता है।

पर क्योंकि हमारा व्यवहार विकल्प–स्यूत होता है इसलिये इन्द्रिय–बोध को समझने के लिये हम लक्षण करने को बाध्य हैं। 'स्वलक्षण' शब्द का प्रयोग इसी बाध्यता में किया गया है। 'स्वलक्षण' 'अपना लक्षण आप' इस अर्थ में है कि वही है, कल्पना से अछूता वस्तु–सत् है। हमने जो यहां विचार की दो दिशायें लीं उनके बारे में अनभिलाप्यवादी यह भी कह सकता है कि इन्द्रिय–ग्राह्य वस्तु–सत् के बारे में जब कुछ भी कहा नहीं जा सकता, तो उसके बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह इन्द्रिय–बोध–पर्यवसित है, और न यह कि इन्द्रिय अपने से बाहर किसी कुछ का बोध करती है। ये दोनों ही अभिलाप हैं– कल्पनायें हैं। उस बोध को जो 'विशेष' कहा गया है, इस कहने में यही अनभिलाप्यता निहित है। अब हम अभिलाप करते हुए उस विशेष को इन्द्रिय–बोधगत मानें या उस निर्विकल्प 'कुछ' के रूप में समझें जिसका इन्द्रिय को बोध होता है, तो कहना यह होगा कि यह दोनों ही विकल्प हैं, विशेष को दोनों ही झुठलाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर इन्द्रिय बोध को अभिलाप द्वारा अगम्य कहना और उसे सत् का ग्राहक कहना एक ही बात नहीं है। अभिलाप के बिना सत्–असत् का विमर्श ही नहीं हो सकता है। इन्द्रिय सत्–असत् विमर्श नहीं करती है। यह भी सोचिये कि हम अभिलाप को सत्–असत् कुछ भी कहें, इन्द्रिय को सत् का बोध कहना ठहरता तो आखिर अभिलाप ही है! जो सचमुच ही अनभिलाप्य हो, वह अभिलाप की सीमा से भी बाहर होगा, उसे अभिहित तो क्या, किसी भी अर्थ में व्यंजित भी हम नहीं कर पायेंगे। उसका 'होना' 'नहीं होने' से भिन्न नहीं होगा। उसके बारे में कुछ कहना, स्वतो–विषम या विरोधी ही नहीं, असंभव होगा। पर, हां, हमारी विचार–चेतना की जिज्ञासा का अंत नहीं। वह अनभिलाप्य के भी स्वरूप का अन्वीक्षण करती नहीं थकती। किसीके यह कहते ही कि 'इन्द्रिय को स्वलक्षण सत् का अनभिलाप्य बोध होता है' हम बात विचार–बोध में जगा लेते हैं और फिर उस सत् की जिज्ञासा करते नहीं थकते। पर विचार–बोध को ही अगर स्वरूपेण काल्पनिक और यों मिथ्या ठहरा लिया जाये, यह निर्धारित कर दिया जाये कि विचार शाब्दिक विकल्प–कल्पना का वासना–विलास है, तो अनभिलाप्यवादी के लिये फिर कुछ भी कहने का किसी भी तरह का क्या अर्थ निकल सकता है? वह इन्द्रियों के बारे में जो भी कहेगा (विकल्प करेगा) वह कल्पना के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता!

स्वलक्षण–वादी का ऐसा आशय नहीं हो सकता। उसकी ओर से यहां उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय–बोध की अनभिलाप्यता की बात और यों इन्द्रिय–बोध को 'विशेष' या 'स्वलक्षण' कहना उसका किसी भी अर्थ में लक्षण करना नहीं है, उसकी अनभिलाप्यता को ही उभारना है। यह इन्द्रिय–बोध के उस आद्य–अनवद्य मूल और सत् स्तर की ओर संकेत का मार्ग–दर्शन है, जिसे विकल्प मिथ्या कर देता है। यह समाधान उपयुक्त भी जान पड़ सकता है। पर यहां अब यह देखिये कि अनभिलाप्यता की उपयुक्तता अगर अभिलाप द्वारा उभारी जा सकती है, तो फिर अभिलाप को भी सत् के ग्रहण में कहीं तो समर्थ मानना पड़ेगा– विकल्प–वृत्ति को फिर स्वभाव से ही कल्पना–स्यूत कहने का कोई अर्थ नहीं बनेगा। उभरता यही दीखता है कि अनभिलाप्यवादी के लिये भी विचार–बोध सम्यक् भी हो ही सकता है (चाहे कितना ही भ्रांत भी होता हो)। ऐसा मानने में बाधा नहीं होनी चाहिये। विचार–बोध में सत् के बोध की संभावना न मानी जाये तो इन्द्रियां क्या देखती हैं इसको 'अनभिलाप्य' भी नहीं कहा जा सकता। और फिर सत्य–मिथ्या की बात ही बेमानी है!

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर यहां मेरे मन में एक प्रश्न अब बरबस सिर उठा रहा है। अनभिलाप्य स्वलक्षण सत् के बोध को इन्द्रिय–गत मानने के विचार का आंतर अभिप्राय क्या है? – चाहे बोध को आत्मपर्यवसित मानिये या इन्द्रिय–बाहर किसी कुछ का बोध। क्योंकि यह देखिये कि इन्द्रियगत निर्विकल्प–बोध कोई अजूबा नहीं है, बड़ी आम सी चीज है। पशु को तो इन्द्रियगत निर्विकल्प–बोध ही होता है। पर मूलस्पर्शी प्रश्न यहां यह है कि पशु का बोध निर्विकल्प होता हो, पर क्या वह सामान्य नहीं होता?

स्वलक्षण को निर्विकल्प और विशेष दोनों कहा गया है, विकल्प को शब्दमय मानते हुए और शब्द को सामान्यवाची। पर एक बात यहां ध्यान देने योग्य है जिस पर इस संदर्भ में ध्यान नहीं सा दिया जाता है। यह ठीक है कि पशुओं का वस्तु–बोध और जगत्–बोध निर्विकल्प ही होता है। पशु में भाषा–चेतना नहीं होती, ऐसी तो नहीं ही होती कि अध्यवसाय और विचार करती हो। पर क्या पशु को इन्द्रिय के माध्यम से स्वलक्षण का बोध होता है? ऐसे सत् का बोध जो विशेष हो, सामान्य नहीं? मैं नहीं समझता कि ऐसा कहा जा सकता है। पशु को अपनी तरह का जगत्–बोध होता है, बल्कि यहां तक कह सकते हैं कि हर भिन्न पशु को अपनी तरह का भिन्न जगत्–बोध होता है (हर पशु–जाति अपने–से जगत् में रहती–जीती है, व्यवहार करती है)। उसका जगत्–बोध हमसे कहीं अधिक इन्द्रिय पर निर्भर करता है और इन्द्रिय–भेद से भिन्न पशुओं के जगत्–बोध में भी अंतर होता है, जो स्वाभाविक है। पर जगत्–बोध कैसा भी हो, वह होता योजनामय है। हमारी तरह ही पशु भी एक योजनामय जगत् में जीवन–यापन करता है। तभी पशु–व्यवहार की बात की जा सकती है। पर यह जगत् क्या स्वलक्षण (सामान्य–रहित विशेष) से रचा होता है? ऐसी बात का अर्थ ही क्या होगा? उलटे हम पाते हैं कि पशु–व्यवहार जगत् को सामान्य–बुद्धि से ही देखता–चलता है। चिड़िया घोंसला बनाती या चुग्गा या जोड़ा ढूँढती है तो 'घोंसले, चुग्गे या जोड़े के उपयुक्त कुछ' की खोज करती है, उसकी सामान्य बुद्धि ही काम करती है। यही बात दूसरे पशुओं के व्यवहार पर भी पूरी उतरती है। यह बात और है कि पशु आत्मचेतन नहीं होता, उसमें वीक्षक–चेतना नहीं होती, उसमें भाषा और विचार का अभाव इसी बात का लक्षण है। पर इससे यह बिल्कुल नहीं निकलता कि पशु में सामान्य–बोध का भी अभाव होता है। इस बोध के बिना उसके भी व्यवहार का जगत् नहीं बन सकता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हां, यह कह सकते हैं कि पशु अपने सामान्य–बोध के प्रति आत्मचेतन नहीं होता। वह यह नहीं कह सकता कि 'मैं जगत् को सामान्यों में देखता हूं', और फिर इस बोध के सत्–असत् पर विचार नहीं कर सकता। पर यह बात ही और है।

पर यहां युक्ति का एक और स्तर है जिसे ध्यान में रखना चाहिये। विकल्प और निर्विकल्प की बात निदान को यहां उस भेद पर आ कर ठहरती है जिसे व्यवहार और परमार्थ का नितांत भेद कहा गया है। इन्द्रियों को स्वलक्षण का मूक द्रष्टा माननेवाले यह मानते हैं कि हम जिस जगत् में रहते–जीते हैं वह हमारा व्यवहार–जगत् है। यह जगत् वासना–जात कल्पना है जो शब्द और शब्द–निहित विकल्प से (सामान्य–बोध के माध्यम से) रूप लेती है। यह कल्पना–गर्भ सामान्य–निष्ठ विकल्प–बोध इन्द्रिय–बोध को (उसके स्वलक्षण को विकल्प–लक्षण में विकृत करते हुए) अपने में समाविष्ट कर लेता है।

व्यवहार का प्रतीप परमार्थ व्यवहार की मिथ्या से अलग, उससे अछूता, उससे ऊपर उठा, व्यवहार के वासना–बंध से मुक्त, परम सत् होता है, जो हमारे लिये साध्य होता है। हम व्यवहार से निकल कर ही अध्यात्म–साधना द्वारा उसे पा सकते हैं।

यहां जो मैंने कहा, यह बात विदित सी है, पर विचार के लिये प्रश्न यहां यह उठता है कि इन्द्रिय–बोध का स्वलक्षण सत् क्या व्यवहार से सर्वथा विच्छिन्न परमार्थ सत् होता है? – क्योंकि और तो कोई सत् होता नहीं– और फिर क्या विशुद्ध विकल्प–रहित इन्द्रिय–बोध अपने आप में परमार्थ–बोध ही होता है? स्वलक्षणता अगर सत् में स्थित होती है तो निष्कर्ष की दूसरी क्या गति हो सकती है!

पर बात बेढब ही लग सकती है। परमार्थ–बोध को बुद्ध का बोध कहा जा सकता है, और उसे स्वलक्षण या सत् में भी प्रतिष्ठित कहा ही जा सकता है। और यह भी कहा जा सकता है कि यह सत् निर्विकल्प होता है। अभिलाप या विकल्प में नहीं समा सकता, बल्कि यहां तक कहा जा सकता है कि यह बोध उस विषय–विषयी–भाव (या ग्राह्य–ग्राहक–भाव) से भी परे होता है, जो विकल्प–बोध का, हमारे जगत् का, हमारे व्यवहार का निर्माण करता है, इसीलिये वह निर्विकल्प है। उसे विचार की किसी भी कोटि में नहीं रखा जा सकता, कोटियां विषय–विषयी भाव के भीतर ही बनती हैं। पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषम यहां यह लगता है कि परमार्थ–बोध को स्वलक्षण कहा जाये तो क्या इन्द्रिय–बोध को उसी स्वलक्षण की कोटि में रखा भी जा सकता है? हम यह मान भी लें कि इन्द्रिय–बोध अपने आप में अनभिलाप्य है, पर तो भी उसे रखना तो विषय–विषयी भाव या ग्राह्य–ग्राहक–भाव के भीतर ही होगा। वह जिस विशेष का ग्रहण करता है, उसे बुद्ध के बोध की तरह ग्राह्य–ग्राहक भाव के बाहर रखने की युक्ति ही क्या हो सकती है? यहां यह उत्तर दिया जा सकता है कि इन्द्रिय–बोध का स्वलक्षण और बुद्ध की परमार्थ–दृष्टि में भासित होता स्वलक्षण, ये दोनों परस्पर–भिन्न हैं, पर हैं दोनों स्वलक्षण ही। पर ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं बनता। स्वलक्षणों में तात्त्विक भेद किस आधार पर किया जायेगा? हां, यह कहा जा सकता है कि बुद्ध का परमार्थ–बोध बोध मात्र को सत् की दृष्टि देता है, चाहे इन्द्रिय–बोध हो या विकल्प–बोध। पर ऐसा कहा जाये तो परमार्थ–बोध को व्यवहार–बोध का निषेध न मान कर उसका एक ऊर्ध्वतर बोध में समावेश मानना होगा, जहां बोध मात्र का आत्म–उत्तरण होता है। पर व्यवहार और परमार्थ को सर्वथा भिन्न माननेवाला यह स्वीकार नहीं कर सकता।

यह चर्चा मैंने यहां इसलिये उठाई कि इन्द्रिय–बोध को सत् की कोटि में रखना और विकल्प–बोध या विचार–बोध को काल्पनिक कह देना, यह दोनों एक साथ संभव नहीं दीखता। इन्द्रिय–बोध और विचार–बोध दोनों का यौगपद्य अनिराकरणीय लगता है। उस बोध में तो अनिराकरणीय है ही जिसे मनुष्य की आत्म–चेतना में निहित वीक्षकता में निष्ठ देखा जा सकता है।

अवयवी–बोध इसी यौगपद्य में स्थित होता है। पर हमारी वीक्षकता में अवयवी–बोध की जड़ें और भी गहरी और व्यापक है। हम इन्द्रिय–गम्य विषयों में ही अवयवी नहीं देखते, विशुद्ध विचार के विषयों में भी देखते हैं। हमारा विचार–निष्ठ युक्ति–बोध स्वरूप से ही बड़े गभीर–दर्शी अवयवी–बोध में स्थित होता है। सिद्धांतों को लीजिये, ये उसी अर्थ में विचार के विषय होते हैं जिस अर्थ में चिड़िया इन्द्रिय की विषय होती है (या ऊपर की चर्चा के बाद अब यों कहना चाहिये कि चिड़िया इन्द्रिय–संकेत–का–अर्थ–करते विचार की विषय होती है) और स्पष्ट ही चिड़िया को चिड़िया–के–रूप–में–देखती, 'चिड़िया', यह अध्यवसाय करती विचार–चेतना 'मेरी' या अन्य किसी 'व्यक्ति' की नहीं होती, मनुष्य–भाव में निहित होती है– मनुष्य की जातीय चेतना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होती है। विषय के रूप में विशुद्ध सिद्धांत भी उसी जातीय चेतना का विषय होता है, चाहे मनुष्य–व्यक्ति–मात्र के अवधान का विषय न भी होता हो, पर इसकी संभावना रखता है, और साथ ही, चिड़िया के प्रति हममें जो अवयवी–बोध होता है, सिद्धांत के प्रति वह बोध उससे भी गहरा होता है, क्योंकि आत्म–वीक्षकता में और गहरे अवस्थित होता है। तभी चिड़िया के बोध से कहीं पारदर्शी भी होता है– अपने को देखता–जाँचता हुआ बोध होता है।

पर यहां विचार के जिस किनारे हम अपने को पाते हैं, वहां एक दूसरी तरह का प्रश्न उठाया जा सकता है– क्या इन्द्रियां जो कुछ भी देखती हैं, उसे अवयवी के रूप में नहीं देखतीं? या इससे भी आगे बढ़ कर पूछा जा सकता है कि क्या हमारा समूचा वस्तु–बोध ही अवयवी–बोध नहीं होता? कुछ अवयवी–को–मानते विचारक (जैसे नैयायिक) ऐसा कहते जान पड़ते हैं। पर ऐसा होता नहीं है। उधर सड़क के किनारे पड़े उस पत्थर के टुकड़े को देखिये या कचरे के ढूह को – हम इन दोनों को ही अवयवी के रूप में नहीं देखते। हम इनमें अवयव या अवयव–संघात का बोध भी नहीं करते। पत्थर के डले को आप तोड़िये, चाहे जैसे टुकड़ों में तोड़िये, हर टुकड़ा पत्थर ही रहेगा– वही पत्थर का डला, चाहे कितना ही छोटा–बड़ा टूटे, आकृतियों में कैसे, कितने ही अलग थलग रूप ले, रहेगा वही पत्थर का पत्थर ही, उसमें अवयवी का बोध नहीं जागेगा, टुकड़ों को आप अवयव के रूप नहीं देखेंगे, क्योंकि यहां अवयवी–बोध नहीं जागता, किसी भी टुकड़े को दूसरे किन्हीं भी टुकड़ों में, किसी भी आकृति के टुकड़ों में बाँटा जा सकता है। हम छोटे–बड़े टुकड़ों को परिमाण के अनुसार अलग नाम भी दे ले सकते हैं कृ रोड़ी, बजरी, पत्थर का दाना या चूरा, धूल का कण.., पर इनको हम किसी डले या ढेले के अवयव के रूप में नहीं देखते, क्योंकि ढेले में अवयवी का बोध नहीं होता। चिड़िया के साथ ऐसा नहीं कर सकते, उसे अवयवों में बाँटना और उसके टुकड़े करना, इन दोनों विभाजनों में तत्त्व का अंतर होगा (इस पर हम आगे कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे)।

फिर भी एक बात यहां कही जा सकती है, जो एक विपरीत दिशा लेती भी दिख सकती है। हम किसी पत्थर को सुडौल देख सकते हैं, सुषम–सुंदर, जैसे कोई कलाकृति हो। तब हम उसे अवयवी के रूप में देखते हैं। अपने जिस बोध को हम सौंदर्य–बोध का नाम देते हैं, वह बोध किसी आकृति को अपने आप में अर्थ–गर्भ देखता हुआ उससे चमत्कृत होता है, उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुंदर कहता है तो उसे अवयवी के रूप में देखता है। पत्थर के सुडौल डले को हम इसी तरह देखते हैं। पर यहां एक बात और पूछिये। क्या हम उस सुंदर–दिखते डले में अवयव भी देखते हैं? उसी तरह जैसे चिड़िया में? नदी में पड़ा चिकना–चमकता पत्थर (या नदी ही) इन्हें हम सुंदर देखते हैं तो निःसंदेह हममें एक अवयवी–बोध जागता है, पर ऐसी प्रकृति–लब्ध (या निसर्ग–प्राप्त) वस्तुओं को अवयवी के रूप में देखते हुए भी हम वहां सहज ही अवयव नहीं देखते, जैसा कि चिड़िया में देखते हैं। लगता है कि दोनों अवयवी–बोध एक ही कोटि में नहीं रखे जा सकते। कहा जा सकता है कि नैसर्गिक आभासों में सौंदर्य–बोध वस्तु–गत नहीं होकर तद्–बोध द्वारा आरोपित होता है– अर्थात् वहां अवश्य वस्तु में अपने आप में अवयवित्व नहीं होता, हमारा सौंदर्य–बोध वहां अवयवी का आरोप करता है।

सौंदर्य–बोध यहां प्रकट ही अलग विचार की मांग करता दिखता है, हालांकि इस बोध के जिस रूप की हम यहां बात कर रहे हैं वह इन्द्रिय को ही माध्यम बनाता है। पर इस बोध की गति साधारण इन्द्रिय–गम्य वस्तु–बोध की गति से अलग जाती दिखती है। अब इस बोध का एक और आयाम देखिये जहां बोध ऐसे विराट् का होता है कि उस संदर्भ में किसी निर्धार्य अवयवी की भी बात नहीं की जा सकती। हम पत्थर के सुडौल डले को ही नहीं, आकाश को भी सुंदर देखते हैं– असीम, भव्य, अद्भुत, अद्वितीय, अगाध। अपार विस्मय को जन्म देता है आकाश। वह हममें जो अतल सा चमत्कार बोध जगाता है, वह पत्थर के सुडौल–सुषम डले से कहीं गहरे हमें आलोडित करता है। पर उस बोध का महत्–भाव यही होता है कि उसका विषय स्वरूपेण ही किसी अवयवी के रूप में निर्णीत–निर्धारित नहीं किया जा सकता। ऐसा हो तो बोध के स्वरूप की हानि होगी। बोध–विषय का विराट्–भाव इसी में होता है कि वह अवयवी होने की हर निर्धार्य सीमा को अतिक्रांत करता है। आकाश में ही नहीं, समुद्र के आदिगंत फैले पानी में या मरुथल की रेत के अनंत–लगते विस्तार में भी हमें सहोदर सा बोध होता है। अवयव की तो ऐसे बोध में बात ही नहीं की जा सकती। अवयवी भी यहां बोध में जागे तो बोध को संकीर्ण कर देगा। पर यह बोध भी अवयवी–बोध का उपजीवी होता है। हममें अवयवी–बोध न हो तो भी हम इस बोध की कल्पना नहीं कर सकते। हमारे सौंदर्य–बोध में स्थित अवयवी–बोध के भीतर से ही उसके परे जागता है यह बोध। यहां ऐसा भी नहीं कह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकते कि विराट् के असीम बोध को सौंदर्य–बोध की कोटि में नहीं रखना चाहिये। हमारा अनुभव यह नहीं कहता, न ऐसा कहने का कोई और आधार उभरता दिखता है। हां, बोध में धरातल–भेद होता है, पर वह अन्य बोधों में भी होता है। जैसा हम आगे भी देखेंगे।

सौंदर्य–बोध और साधारण वस्तु–बोध में यह भेद किया जा सकता है (किया जाता ही है) कि सौंदर्य–बोध वस्तु–तन्त्र नहीं होता, पुरुष–तन्त्र होता है, हमारी देखती–चेतना का वस्तु पर आरोप या अध्यास। पर यहां वह चिरंतन प्रश्न आ खड़ा होता है– वस्तु का अपना स्वभाव–गत गुण क्या है, क्या नहीं है? गंध का भला–बुरा, स्वाद का तिक्त–मधुर, स्पर्श का कोमल–कठिन, यहां तक कि रंग–रूप और उनमें दिखते आकृति और छवि के भेद (वर्ण की कांति और उसी रंग के छाँह–भेद), इन सब को भी कई विचारक पुरुष–तंत्र कहते हैं (इनमें वैज्ञानिक भी हैं ही)। तो वस्तु–तंत्र क्या? यह समस्या ही है, जिसे इन्द्रिय के साक्ष्य की दुहाई से नहीं सुलझाया जा सकता। फिर भी हमें सौंदर्य को दूसरे गुणों से अलग रखना भी अस्वाभाविक नहीं लगता। प्रकृतिगत सौंदर्य को पुरुष–तंत्र कहें तो मन भी कुछ उधर की ही गवाही देता लग सकता है। सहज ही हमें लग सकता है कि गंध, स्पर्श, स्वाद, रंग–रूप, ये स्फुट ही इन्द्रिय के विषय हैं, जबकि शोभा या सौंदर्य, इसका चेतना की किसी पुरुष–तन्त्र (या विषयी–तन्त्र) स्वतंत्र वृत्ति के बिना आकलन नहीं किया जा सकता, हालांकि सौंदर्य को हम देखते इन्द्रिय–गम्य वस्तु के ही गुण के रूप में हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि चेतना की अतीन्द्रिय वीक्षक–वृत्ति के बिना इन्द्रिय–गम्य बोध के विषय का अध्यवसाय–आकलन संभव नहीं, और सौंदर्य के जिन रूपों की हम बात कर रहे हैं वे भी इन्द्रिय के ही विषय होते हैं। पर फिर भी कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के ही माध्यम से होता सौंदर्य–बोध इन्द्रियों पर उतना निर्भर नहीं करता जितना हमारी चेतना की अपनी उन्मुखता पर। इसका एक चिह्न यह है किं इसमें 'क्या है' यह अध्यवसाय गौण होता है, और बोध–विषय का तत्–देशकाल में होना भी। इससे उसकी पुरुषतंत्रता (या कहिये चेतना–तंत्रता) अधिक प्रकट है। हमारी वीक्षक–वृत्ति ही यह कहती जान पड़ती है। सौंदर्य–बोध में इन्द्रिय–गत वस्तु एक व्यंजना का माध्यम होती है, जो वस्तु के वस्तुगत अध्यवसाय से परे हमारे भाव जगत् की ओर उन्मुख होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि बोध अवस्तुगत होता है, पर बोध का आयाम साधारण वस्तुबोध से भिन्न होता है। सौंदर्य–बोध की वस्तु भाव–जगत् की वस्तु होती है, हमारे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उस बाह्य–जगत् की उतनी नहीं जिसे हम प्रदत्त मान कर चलते हैं, जिसमें व्यवहार करते हैं, जिसकी अपनी एक स्वतंत्र नियम–योजना मानते हैं।

तभी, जिसे हम सौंदर्य–बोध कह रहे हैं, वह आकृति के सुडौल–सुषम होने पर ही नहीं टिका होता– आकाश, समुद्र या मरुस्थल का विराट भव्य–बोध ही इस बात का निराकरण कर देता है। और बोध सब समय सुंदर, सुषम, रम्य या रंजनमय भी नहीं होता, बड़ा रौद्र–विषम–भयानक–बीभत्स भी हो सकता है यह बोध। बोध के इस प्रसार को हम अगर 'सौंदर्य–बोध' जैसा नाम दे रहे हैं तो कहना न होगा हम सौंदर्य शब्द का एक व्यापक अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। तो, जिसे हम सौंदर्य–बोध कह रहे हैं, उसे दूसरा नाम दे लीजिये (दिया ही गया है) – रस–बोध, चमत्कार–बोध, नन्दन–बोध, विस्मय–बोध... पर इससे भी अलग कुछ और नाम दिया जा सकता है। पर नाम कुछ भी दीजिये, इस बोध के भी भीतर, मैं समझता हूं, एक भेद तो स्पष्ट उभर कर आता ह– बोध का प्रकृति की ओर उन्मुख रूप और इससे हट कर कला की ओर उन्मुख रूप, इन दोनों को एक ही कोटि में रखते हुए भी अलगाव दिखता है। यह भी विशेषरूप से ध्येय है कि सब कलाकृतियों का बोध इन्द्रिय–साक्षात् के माध्यम से नहीं होता– जैसे कथा, कविता, उपन्यास और भाषा के माध्यम से निर्मित कला के अन्य रूप। इनमें नाटक और फिल्म भी आ जाते हैं, जहां तक कि वे भाषा के बिना नहीं बनते। इससे बोध का चेतना के अपने ही आंतर अर्थों से सम्मुख होना और भी स्फुट हो जाता है। पर कलाकृतियों में कई ऐसी होती हैं जिनकी अवगति इन्द्रिय के माध्यम से ही होती है– चित्र, प्रतिमा, नृत्त, संगीत, वास्तु...। अब, कलाकृतियों को हम अवयवी के रूप में देखते ही नहीं, अवयवी के रूप में स्वयं गढ़ते हैं, बड़े सुनियोजित भाव से इन्हें अवयवी का रूप देते हैं। इनके माध्यम से भी आकाश जैसा अवयवी–को–अतिक्रांत–करता विराट बोध जाग सकता है, पर इनका अपना रचनामय रूप अवयवी का ही होता है। इन्हें हम वैसे ही गढ़ते हैं जैसे घड़ा बनाते हैं। इनके प्रति हमारा अवयवी–बोध भी बड़ा तल–स्पर्शी होता है, क्योंकि ये हमारी बनाई चीजें होती हैं। अपनी बनाई चीज में हम बड़ा गहरा और मर्म–गत अवयवी–बोध करते हैं। ऐसी वस्तुओं में अवयवी का निषेध तद्–वस्तु के वस्तुत्व का ही नितांत निषेध होगा।

हम विशेष की चर्चा करते आये हैं, उस स्वलक्षण विशेष की जो सामान्य का निषेध होता है। पर विशेष का एक और अर्थ देखिये। यह अर्थ व्यक्तिभाव के विशेष की ओर संकेत करता है, उसकी अनन्यता की ओर,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसके अंतःगुँफ में बसी अनन्य–सामान्यता की ओर। यह सामान्य का निषेध नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति सामान्य के अंतर्गत होता है, सामान्य को ऊह्य रखता है, पर उसका विशेष, उसका अपनापन, उसका आत्म, सामान्य–निमज्जित नहीं होता, अपना स्वगत स्वरूप रखता है, जिसे उसका मर्म या अंतः–तत्त्व कह सकते हैं। सुंदर वस्तु को लीजिये, उसमें अवयवी–बोध के साथ उसके विशेष होने का भी बोध होता है। तभी सुंदर पत्थर का 'वही पत्थर' होना आवश्यक होता है, दूसरे पत्थर में वर्ण–आकृति का वह संस्थान नहीं होता जो पत्थर को सुषम–सुंदर बनाता है, उसमें शोभा जगाता है, उसे अपना स्वगत स्वरूप देता है। अगर दूसरा पत्थर भी शोभन हो तो उसका भी अपना विशेष होगा। यह 'विशेष होना' एक व्यक्तिभाव में बसा होता है। अन्यव्यावृत्त होता है। अन्यव्यावृत्ति को यों तो व्यष्टिभाव का भी लक्षण कहा जा सकता है। मिट्टी का एक व्यष्टिभूत कण भी दूसरे कण से व्यावृत्त होता है। पर यह व्यावृत्ति इतनी सामान्य–दिग्ध (या कहिये कि सामान्य–व्याप्त) होती है कि एक को दूसरे से बदल दें तो कोई आंतरिक अंतर नहीं पड़ेगा। पत्थर के शोभन टुकड़े के साथ ऐसा नहीं कर सकते– क्योंकि अर्थ का भेद हो जायेगा, जो वस्तु में अंतः–व्याप्त होता है। शोभन कलाकृति को लीजिये तो बात और स्फुट सामने आती दिखती है। हर कलाकृति की अपनी स्वगत, स्वायत्त व्यंजना होती है जो दूसरी कलाकृति से उसे अर्थतः भिन्न करती है। तभी कलाकृति घड़े की तरह ही हमारी निर्मिति होते हुए भी घड़े की तरह सामान्य नहीं विशेष होती है। घड़े में बात सामान्य उपादेयता की होती है; एक घड़े को हम दूसरे घड़े से बदलते भी हैं तो भेद व्यवहार की उपादेयता का होता है, घड़े के अपने अर्थ का नहीं। भिन्न घड़ों को हम बोध के किसी गहरे स्तर पर अलग रख कर नहीं देखते, देश–काल में घट–व्यष्टि अन्य–घट–विशिष्ट होता हुआ भी घट–सामान्य में पूरा अपचित होता है, उसका कोई अपना अन्य–घट–विशेष अर्थ या प्रयोजन नहीं होता, चाहे आकृति–भेद होता भी हो। ऐसे व्यष्टि में व्यक्तिभाव, उसका अपना अनन्य अर्थ, उसके उपादेयता मात्र के वलय से बाहर आकर ही बनता है। सौंदर्य ऐसा ही निरुपादेय आंतरिक, व्यक्तिगर्भ अर्थ या प्रयोजन है, ऐसा प्रयोजन जिसे 'अपना–प्रयोजन–आप' या स्वप्रतिष्ठ प्रयोजन कह सकते हैं। घड़े में ही नहीं, प्रकृतिगत वस्तुओं में भी वस्तुओं का अलग होना (विशेष होना) सामान्यगत या किसी सामान्य के भीतर व्यष्टिगत ही होता है, व्यक्तिगत नहीं। शीशम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के (या किसी और जाति के) पेड़ों में या एक जाति की अलग चिड़ियाओं में भेद व्यष्टिगत ही होता है जहां व्यष्टि का सामान्य से ऊपर–उठा स्वगत अर्थ या मर्म नगण्य होता है, वैसे ही जैसे माचिस के एक डिब्बे की तीलियों में; जब तक कि पेड़ विशेष से हमें विशेष लगाव न हो, या चिड़िया विशेष से विशेष प्रेम – और यों हम इन्हें अपनी अर्थ–चेतना के पारस–स्पर्श का विशेषत्व अर्पित न कर देते हों। पर ऐसे विशेष को आरोपित कहना ही उपयुक्त लगता है, तभी हम किसी पत्थर के टुकड़े को भी देवता का प्रतीक मान ले सकते हैं। पर कलाकृति के साथ ऐसा नहीं होता– हर कलाकृति सामान्य होते हुए भी, और इस रूप में देखी–समझी जाती हुई भी, अपना अलग स्वगत विशेष अर्थ, विशेष व्यंजना रखती है, तभी कला.ति होती है। किसी किसी घड़े को भी अकसर कलाकृति के रूप देखा जाता है, और इसका कारण उसकी आकृति का अनन्य–सामान्य वर्ण–और–रूप–संस्थान होता है, जिसका बोध उस संस्थान ध्वनित होती ऐसी उपादेयता–के–परे–जागती व्यंजना में होता है जो उसे घड़े सामान्य से और घड़े के सामान्य प्रयोजन से अलग कर विशेष संवेदनागत अर्थ दे देती है। यह अर्थ हमारे बोध की व्यापकता में विशेष विस्मय के साथ अनुरणित होता है। ऐसे घड़े कलाकृतियों के संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। इनमें जागता व्यक्तिभाव का आयाम इन्हें विशेषता देता है।

पर कैसा होता है कलाकृति का यह विशेष–भाव? यह स्वलक्षण जैसा विशेष तो नहीं ·हो सकता क्योंकि सामान्य–चेतना में ही जागता है– यह सामान्य का निषेध नहीं करता उसे ऊह्य रखता विशेष होता है। कलाकृति–बोध सामान्य बोध का स्वभावेन प्रतीप नहीं होता, उलटे सामान्य का पर्यवेक्षी रहता हुआ उस बोध को ही एक विशेष केन्द्र या नाभि में समाहित करता दिखता है। कलाकृति का विषेष उसके जिस अर्थ, जिस व्यंजना में होता है, वह उसके संस्थानगत अंतःसूत्रों की विशेष बुनावट में बनती–उभरती है। इस विशेष को अंतः–गत कहने का आशय उसके उस विशेष–भाव की ओर इंगित करना है जो साधारण व्यवहार–निष्ठ वस्तु–बोध से उठ कर संवेदना–ग्राह्य होता है। यह उसके वस्तुत्व से इनकार नहीं, वस्तुत्व को भौतिकता के ही धरातल पर सीमित रखने की विचार–प्रवृत्ति से अस्वीकार है। वस्तु का ग्रहण आत्मचेतन वीक्षक–चेतना को होता है जो वस्तु–बोध के भिन्न आयाम या लोक पालती है। इन आयामों में सार्थकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का धरातल–भेद भी प्रविदित–संविदित होता है। अर्थ के भौतिक से ऊर्ध्व आयामों में, जैसे सौंदर्य–बोध में, बोध के भीतर भी अर्थ का धरातल भेद जागता है– भिन्न कलाकृतियों से जागते बोध में गहराई–छिछलापन, व्यापकता–संकीर्णता आदि के प्रखर भेद देखे जा सकते हैं। पर हर कलाकृति अपना एक व्यक्तिभाव रखती है जो सामान्य–संवेदना–ग्राह्य होता हुआ भी 'उसीका' होता है। बात यहां किसी के पसंद की या रुचि की नहीं होती, स्वाद की नहीं, सौंदर्य की होती है, चेतना–सामान्य के अपने अर्थलोक के वस्तुत्व की; इसके बिना कृति कलाकृति नहीं होती। पर हम देख आये हैं कि यह बोध कलाकृति में ही नहीं, निसर्ग–दत्त भूत–वस्तु में भी होता है; और वहां भी बोध का धरातल–भेद जागता है। ऐसे बोध में वस्तु अपने–आप–में–अर्थ–रखती विदित होती है, विशेष होती है। कलाकृति का बोध स्पष्ट ही ऐसा होता है। अपने–आप–में–अर्थ–रखते अवयवी विशेष का बोध होता है। वस्तु के गुँथाव के सूत्र सामान्य होते हैं, पर संस्थान–व्यंजित अंतः–गुंफ–स्वरूप विशेष होता है। यह सामान्य–में–अपचित व्यष्टि का नहीं, व्यक्ति का, और यों अर्थतः, व्यक्ति–विशेष का बोध होता है। मनुष्य व्यक्ति में भी सदृश बोध होता है। वहां भी सामान्य सूत्रों या तत्त्वों का गुँथाव व्यक्ति को तद्–व्यक्तिभाव देता है, पर वहां अंतःगुँफ का अंतः–बोध, उसका अवयवी विशेष होना और भी अपरोक्ष होता है। इस पर हम आगे आयेंगे। पर पहले जो मूलभूत समस्या आरम्भ में उठाई गई उसके और पहलू लें।

विचार–परंपरा में अवयवी के निषेध की प्रवृत्ति गहरी है। हमने देखा कि बड़े विचार–दक्ष, गंभीर दार्शनिकों ने अवयवी मात्र के होने का ही, उसकी सत्ता का ही तलस्पशी निषेध किया है, और बड़े तात्त्विक स्तर पर किया है। एक और निषेध को लें, जहां बात विचार की एक विशेष दिशा लेती है। यह निषेध उपर चर्चित निषेध का समानान्तरीय या समतुल्य होता हुआ भी अपनी तत्त्व दृष्टि में कुछ भिन्न है। इमनें कलाकृति की बात की। कलाकृति निर्मित होती है और यह निर्मिति ऐसे अवयवी को वस्तु रूप में खड़ा करती है जो अन्यथा खड़ी नहीं हो सकती। यह निर्मिति कल्पना प्रसूत है और जिस निषेध की हम बात कर रहे हैं वह निर्मिति – कल्पना को तत्त्वतः असत् ठहराती है। यह कलाकृति के अवयवित्व का ही नहीं, किसी भी अवयवी का निषेध है, किसी भी अवयवी जैसी लगती वस्तु के तद्–वस्तुत्व का ही निराकरण कहिये। दार्शनिक कहता ही है – मिट्टी ही सब कुछ है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घड़ा कुछ नहीं– सोना ही सब कुछ है, केयूर, कुंडल... कुछ नहीं, अद्वैतवादी दर्शन में ऐसे उदाहरण आम हैं। यहां भी अवयवी का निषेध साफ ही मूलग्राही है – उसकी अपनी अवयवी सत्ता से समूचा इनकार है। ऐसा दर्शन भी अंततोगत्वा व्यवहार और परमार्थ के नितांत भेद पर आश्रित होता है। अद्वैत में वस्तुत्व से इनकार नहीं है, उसके शब्दग्राहित्व से भी इनकार नहीं है (बल्कि शब्द ही प्रधान प्रमाण है) पर वस्तु एक, अद्वय है, हमारे अनुभव, व्यवहार का नानात्व उसीका मिथ्या विवर्त है– आपातिक है, प्रतिभास मात्र है, वास्तव नहीं। व्यवहार का जगत्, जिस जगत् में हम रहते–जीते हैं, वह नानात्व में स्थित है, नानात्व के बिना हो ही नहीं सकता, पर नानात्व इस दर्शन में मिथ्या कल्पना है– अविद्या–जन्य माया जो सत्य और अनृत का मिथुन होती है। अद्वैत वेदान्ती की दृष्टि में व्यवहार जगत् को सर्वथा अलीक कहना युक्त नहीं ठहरता, क्योंकि जगत् का नानात्व प्रतिभास व्यवहार–स्तर के अनुभव में (वह जब तक रहता है) अनिराकरणीय होता है, इसलिये अद्वैती उसे सदसद्–विलक्षण कह देता है। पर ऐसा कहना भी उसके असत् की ही स्वीकृति है, क्योंकि व्यवहार का जगत् आपातिक है, अपरमार्थ है और यों स्वरूपतः मिथ्या ही है। परमार्थ उसे बाधित कर देता है, चाहे बाध से पहले वह सर्वगत–बोध में स्थित रहता हो, और अपना एक सर्वगम्य स्वरूप और योजना भी रखता हो।

हम पाते हैं कि हमारे व्यवहार और अनुभव के जगत् को, जिस जगत् में अवयवी रूप लेते हैं, उसे कल्पना कहना विचार की एक गहरी प्रवणता है। ऊपर चर्चित बौद्धों का विकल्प–मिथ्यात्व और अद्वैत का मायावाद ही नहीं, विज्ञान भी अपनी तरह से यही कहता है। वह भी सर्वदृश्य, इन्द्रिय–गम्य व्यवहार–ज़गत् का बाध ही करता दिखता है। वह भी अवयवी के सत् का निषेध करता है। जगत् को परमाणु–समूह में अपचित करने की दिशा लेता हुआ विज्ञान जगत् को परमाणु–समूह (परमाणुओं का निरवयव ढूह) ही मानता है। मायावादी की तरह ही वह मिट्टी को सत् मानता है, घड़े को नहीं ('मिट्टी' उसके लिये परमाणु–जाल है), घड़ा मिट्टी का असत् विकार या विवर्त मात्र है, हमारी व्यवहार–चेतना की मिथ्या प्रसूति। कहना न होगा, विज्ञान इन शब्दों का प्रयोग नहीं करता, न किसी मूल–दृष्टि में अवस्थित दर्शन का समर्थन (या निराकरण) करता है, पर उसकी अपनी दृष्टि और जगत् को मापने–समझने की चेष्टा का निहितार्थ यही उभरता है। जिस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत् में हम जीते हैं, जिसे देखते–समझते हैं, जिसे समझने, नापने–जोखने की जिज्ञासा से विज्ञान आगे बढ़ता है, वह विज्ञान के लिये भी कल्पना ही ठहरता है, वह हमारा दृष्टि–दोष है, चाहे इस दृष्टि–दोष के पीछे कोई अविद्या जैसा परम कारण न हो। बल्कि विज्ञान के लिये यहां कारण की बात अवांतर है। व्यवहार जगत् उसके लिये निष्प्रयोजन, आगन्तुक, यादृच्छिक है। उसका अपना कोई अर्थ नहीं, सत्ता नहीं।

अब, आगे बढ़ने से पहले एक और विचार कीजिये। हमारी अवयवी–दृष्टि गहरी है, जगत्–व्यापक है – जगत् को ही हम एक अवयवी के रूप में देखते हैं। हमारे बोध में इस 'देखने' की जड़ें तलस्पर्शी हैं। विज्ञान जो अन्यथा अवयवियों की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता, वह भी जगत् को एकत्व में प्रतिष्ठित अवयवी के रूप में ही देखता है– उसकी सारी खोज में, विचार–प्रक्रिया में, जगत् का अवयवी होना ऊह्य है। विज्ञान के लिये परमाणु की खोज जगत्–रूपी अवयवी के अवयवों की खोज है। पर विज्ञान–दृष्ट परमाणुओं को जगत् का परम अवयव मानें तो एक तीखा प्रश्न उठता है कि क्या परमाणु को हम जगत्–रूपी अवयवी के सार्थक 'अवयव' कह भी सकते हैं? चलिये, हम जगत् को भौतिकता में ही अपचित कर दें, तो भी क्या ऐसा कह सकते हैं? विज्ञान अपनी तरह से इन्द्रिय–गम्य भौतिक या जड़ जगत् के स्वरूप का संधान–विश्लेषण करता हुआ परमाणु और ऊर्जा के सूक्ष्म रूपों तक पहुँचता है। पर उसकी यात्रा उसे दृश्य जगत् से दूर एक ऐसे सूक्ष्म जगत् में ले जाती है जो हमारे पहचान के (भौतिक) जगत् से कोई संबंध नहीं रखता जान पड़ता है। बड़ा विचित्र है परमाणु–जगत्। वहां पिंड और ऊर्जा का भेद ही विलीन होता दिखता है। परमाणु–जगत् का जगत्–व्यापार हमारे इन्द्रिय–परिचित भौतिक जगत् के व्यापार से इतना भिन्न है कि दोनों की संगति ही एक पहेली बन जाती है। किसी भी परिचित अवयवी का विश्लेषण–विभाजन हम उसके अवयवी–भाव के अवयवों के अंगप्रत्यंग में गहरे–पैठती तलदृष्टि के साथ समझने के लिये करते हैं तो अवयव–अवयवी संघात के संबंध में ही पैठ बनाने के लिये करते हैं। पर विज्ञान समझ को ऐसी अनहोनी की ओर ले जाता दिखता है जहां अवयव का अवयवी से संबंध टूटता दिखता है– दोनों बिलकुल अलग दिशा लेते जान पड़ते हैं। विज्ञान हमें एक जगत्–द्वैत की ओर ले जाता है जहां सूक्ष्म परमाणु जगत् और व्यवहार का जगत्, एक दूसरे से स्वरूपेण विच्छिन्न जान पड़ते हैं। हम अपने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यवहार के जगत् में जिन अवयवियों के बीच रहते हैं, मनुष्य, जीव, वनस्पति, हमारी बनाई हुई चीजें, इन्हें तो विज्ञान अवयवी की स्वतन्त्र सत्ता देता ही नहीं, प्रतिभास मात्र मानता है। पर हमारे दृश्य भौतिक पदार्थ भी, जैसे प्रकाश, जिसमें हम वस्तुओं को देखते हैं, वह भी परमाणुओं के गोरखधंधे में अपनी परिचित सत्ता खो देता है। प्रकाश प्रतिभास है, वास्तव नहीं, प्रकाश में दिखती चीजों की तो बात ही क्या।

पर अब एक और, एक दूसरी तरह का प्रश्न यहां सता सकता है। माना कि हम जगत् को अवयवी के रूप में देखते हैं, पर यह देखना कैसा देखना है। जगत् का अवयवी के रूप में बोध कैसा अवयवी–बोध है? जगत् को हम हथेली पर रखे आँवले की तरह तो देख नहीं सकते, घड़े की तरह या कलाकृति की तरह भी नहीं देख सकते। उसके 'देखने' की बात ही वृथा है। ऐसे देखने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। फिर यह भी सोचिये कि घड़ा या कलाकृति का (इन्द्रिय–गम्य) रूप नियत–निर्धारित होता है, सीमित होता है, तय कर दिया गया होता है, पर यह सब जगत् में, जगत् के अंतर्गत, होता है, पर जगत् के बारे में ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। जगत् को हम अवयवी के रूप देखते तो हैं, पर यह कैसा अवयवी है, यह प्रश्न ही नहीं, बड़ी गहरी पहेली बना रहता है। विचार इस अवयवी के मर्म को पकड़ने के लिये उत्कंठ रहता है, पर इस उत्कंठा का समाधान मिल जाना दूसरी बात है। दर्शन की एक मुख्य जिज्ञासा ही 'जगत् का स्वरूप क्या' होती है। बल्कि यह भी चुभता हुआ प्रश्न बना रहता है कि जगत् माना अवयवी है (इसके विपरीत कल्पना का क्या अर्थ होगा, समझ में नहीं आता) पर तो भी क्या जगत् ऐसा अवयवी है जो बन–कर–तैयार, अपने पूर्णांग रूप में प्रस्तुत अवयवी है? विचार की ऐसी दिशा भी होती है जो जगत् को स्वरूपेण प्रस्तुत मानती है। विज्ञान जगत् को (या जगत् के तत्त्व को) पूरी तरह निर्मित ही मान कर चलता लगता है। ऊर्जा/परमाणु और उनके नियत संबंध ही सब कुछ हों तो ऐसा कहा भी जा ही सकता है। जगत् को प्रतिभास या मिथ्या कल्पना मानना भी अध्यात्म परंपरा का गहरा संस्कार है, इस विचार में भी जगत् 'जान लिया गया' होता है, और तब जगत् को जानने से ज्यादा इससे निकलने की छटपटाहट सताती है। पर जिस जगत् में हम रहते–जीते हैं, उसमें कुछ भी सार्थकता देखें तो इसे यादृच्छिक या मिथ्या कह कर टाल देना बेमानी ही लगता है, और यह उसके अवयवी–स्वरूप का भी निराकरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही होता है। पर इससे भी बढ़ कर यह हमारा अपने ही 'होने' का निषेध और निराकरण होता है। पर ऐसे निषेध का अर्थ क्या? यह निषेध हममें गहरे बसी जिज्ञासा और संधान का भी निषेध है (जो जगत्–विषयक भी होती है)। हम जगत् में होते हुए, जगत् को पूर्वगृहीत रखते हुए ही कोई जिज्ञासा करते हैं। यों जगत् का निराकरण हमारी जिज्ञासा का भी निराकरण ठहरता है। हम यह भी मान लें कि हमारा (वास्तव) स्वरूप जगत्–निष्ठ नहीं है (जैसा कि अध्यात्म–दृष्टियों में ऊह्य है) तो भी जिज्ञासा–बोध का, संधान का, निराकरण तो हम नहीं चाहेंगे। कोई भी संधान, चाहे जगत्–विषयक हो या जगत् के परे ले जाता हो, उसका अपना 'होना' न हो तो उसमें सार्थकता ही क्या होगी? उसका निराकरण उसका मिथ्याकरण ठहरता है। पर यह भी सोचिये कि ऐसा निराकरण भी संधान का ही फल होता है। अपने मर्म में यह संधान जगत् में होते हमारे अपने स्वरूप का, अपने 'होने' के अर्थ का संधान होता है, क्योंकि हममें ही वह तत्त्व है जो जगत् के स्वरूप को जानना चाहता है, तभी हमारे लिये निरंतर खोज का विषय बना रहता है। हमारे संधान का, जिज्ञासा का, कोई भी 'अंतिम' कहलाता उत्तर जिज्ञासा या संधान का अंतिम समाधान नहीं बन पाता। ऐसे किसी समाधान के मिल जाने का गुमान भी हो तो भी जिज्ञासा और संधान बने रहते हैं। बल्कि हम यहां तक कह सकते हैं कि संधान सत्य है, उसका फल नहीं। 'जगन्मिथ्या की अध्यात्म–दृष्टि, जहां तक वह दृष्टि है, संधान को मिथ्या नहीं ठहरा सकती। और इसीलिये ऐसा नहीं है कि अध्यात्म–दृष्टियां जगत् को मिथ्या ही ठहराती हैं। 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' या 'साहब मिल गया तिल ओले' की दृष्टि को इसके विपरीत जाते देखा जा सकता है। हमारी जिज्ञासा और तज्जन्य संधान जगत् में ही उभरते हैं, जगत् को, उसके होने को, ऊह्य रखते हैं। फिर यह भी सोचिये कि वनस्पति से लेकर मनुष्य तक का, हमारे होने तक का, चिद्–विकास, इसे अगर यादृच्छिक परमाणु–संबंध या मिथ्या कल्पना मात्र न मान लिया जाये तो भी जगत् को हम 'पूरा–का–पूरा–प्रस्तुत' तो नहीं कह सकते! उसके बारे में कोई भी अंतिम निर्णय नहीं दे सकते। विकास आगे की ओर खुला ही लगता है, और क्या रूप लेगा यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। यहां एक बात और सोचिये। विज्ञान के संधान–रूप को लीजिये। वह संधान भी क्या निरवयव आगन्तुक परमाणु संबंध मात्र है? ऐसा कहने का अर्थ ही क्या होगा? प्रकट ही, यह संधान अगर परमाणुओं के आपातिक संबंध से बना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आगन्तुक प्रतिभास है तो इसका होना भी मिथ्या इंद्रजाल है। पर संधान को सत्य, सार्थक मानें तो वह जिस जगत् का अंग है और जिसके अवयवी होने को ऊह्य रखता है उसे छलावा कहने से क्या बनती है!

हां, यह कह सकते हैं जगत् के किसी भी निराकरण का आधार हमारी वह चेतना है जो जगत् को विषय के रूप में देख सकती है, जगत् के स्वरूप को जाँच–परख सकती है। हम वीक्षक चेतना की बात कर आये हैं। वह देखती ही नहीं, प्रश्न भी करती है, संधान करती है। वही वीक्षक–चेतना जगत् को (या किसी कुछ को) सत् या असत् ठहराती है। क्योंकि वही किसी भी संधान और संधान–निष्ठ साधना का आधार है। प्रमाण–बोध का आधार है। किसी भी संधान की तरह जगत् के स्वरूप का संधान यह मान कर चलता है कि संधानी चेतना अपने विषय से अलग, तटस्थ रह कर उसे परख सकती है। हमारी अपने–आप–को–देखती वीक्षक–चेतना का विषयी जिसे भी विषय बना सकता है, उससे ऊर्ध्व, तटस्थ, रहता है, तभी वह संधान के विषय को जिज्ञासा और जाँच का विषय बना सकता है। वह वीक्षक बाह्य और आंतर विषयों को ही नहीं, अपने आपको, अपने वीक्षण को भी अपना विषय बना सकता है। आत्मचेतना के इस प्रत्यक् व्यापार में किसी 'परम' विषयी की ओर हटते हुए हम विषय मात्र का निराकरण या निषेध भी कर सकते हैं; विषय को कल्पना, मिथ्या प्रतिभास या किसी और अर्थ में असत् ठहरा सकते हैं। विषयी की इस तरह अपनी ओर निवृत्ति में विषय से ताटस्थ्य ही नहीं उभरता, इसमें एक और गहरी अभीप्सा गूढ़ जान पड़ती है। विषय मात्र से सर्वथा निवृत्त हो जाने की एषणा। यह एषणा चेतना की (चित् की) ही अपनी एषणा जान पड़ती है जो विषयों से हटती हुई सर्वथा विषय–मुक्ति को ओर बढ़ना चाहती है– अपने शुद्ध विषयी स्वरूप की ओर। सांख्य के पुरुष को लीजिये– वह ऐसा विषयी है जो विषय से नितांत अछूता है, पर उसीका संधान प्रकृति का (जगत् का) परम पुरुषार्थ है। सांख्य के लिये संधान–कर्ता निर्विषय विषयी नहीं हो सकता। वह जगत् में रहता हुआ विषय–दिग्ध विषयी ही हो सकता है (तभी उसे बुद्धि का प्रतिसंवेदी भी कहा गया है, विषय–उपहित विषयी) जो अपने को भी विषय बना सकता है, अपने स्वरूप की जिज्ञासा, अपने सत्य का संधान कर सकता है। जो विषयी (या चित् कहिये) स्वरूपेण विषय से बिलकुल अस्पृष्ट है उसमें कोई संधान कहां से हो सकता है? संधान तो विषय–विषयी भाव के भीतर ही रूप ले सकता है। सांख्य के द्वैत में ऐसा विषय–विषयी भाव विशुद्ध विषयी में संभव ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं। तभी पुरुष का संधान पुरुष नहीं, विषय–विषयी भाव से बनी प्रकृति करती है, विषय–निष्ठ विषयी करता है। हमारी सारी जिज्ञासा, सारे अर्थ–संधान, मुक्ति की साधना भी, जगत् और उसके विषय–विषयी भाव में बसे होते हैं या कहिये कि यह सब जगत्–गत होता है। और तब निर्विषय विषयी (पुरुष) प्रकृति या जगत् से सर्वथा असंपृक्त एक अलग तत्त्व के रूप में उभरता है। यह विषय–विषयी–रूप प्रकृति से अलग विशुद्ध विषयी होता है और तभी सर्वथा जगत्–बाहर होता है। स्पष्ट ही सांख्य यहां मनुष्य की (मनुष्य व्यक्ति की, क्योंकि पुरुष अनेक हैं और इसका आधार व्यक्ति–भेद है) आत्मचेतना में और उसके अगाध प्रत्यक्–भाव में ही अपने तत्त्व–दर्शन का आधार पाता है। अध्यात्म में (और विचार में भी) विशुद्ध चित् का संधान ऐसी चेतना में ही संभव है जो एक आधारगत आत्म–द्वैत में स्थित हो और जिसका आत्म ही विषय और विषयी दोनों रूपों में युगपत्, युगनद्ध युगल के रूप में उभरता हो, पर साथ ही, जिसका विषयी अपने को विषय बनाता हुआ, अपने विषय–भाव से पीछे, दूर–हटते–चले–जाते, एक गहरी आत्म–निवृत्ति में स्थित प्रत्यक–भाव में निविष्ट हो, जैसा हमारी आत्मचेतना में प्रकट उपलब्ध होता है। मानो आत्म की प्रत्यक् यात्रा विषय–भाव से ही अपने को हटाती हुई अपनी निर्विषय विशुद्धता की ओर बढ़ रही हो। मोक्ष का मार्ग इसी यात्रा को फलित करने का मार्ग है। पर स्पष्ट ही जिस आत्मचेतना में यह यात्रा रूप लेती है वह निर्विषय नहीं होती, अपने–को–विषय–बना–सकते विषय–विद्ध विषयी में ही जन्म लेती है। विषय–विषयी भाव के बिना वह चेतना संभव नहीं जो अपने निर्विषय स्वरूप का संधान करे। जैसा अभी इंगित किया, सांख्य की तत्त्व–दृष्टि विषय और विषयी को दो सर्वथा भिन्न तत्त्वों के रूप में देखती है, जहां विशुद्ध विषयी तत्त्व (चित्) नितांत जड़ विषय तत्त्व में आ फँसा है, विषय–दिग्ध ही नहीं, विषय–बद्ध हो गया है। तभी विषय–विषयी भाव का युगनद्ध युगल बनता है। इसी से सृष्टि संभव होती है। तभी हम यह पाते हैं कि सांख्य–दृष्टि में पुरुष–तत्त्व (चित्) के विषय–तत्त्व (प्रकृति) से संपृक्त हुए बिना सृष्टि ही संभव नहीं होती, जगत् बनता ही नहीं, संभावना–भर रहता है। स्पष्ट ही, सांख्य का व्यक्त जगत् विषय–विषयी भाव में प्रतिष्ठित है। प्रकृति को वहां जड़ कहा गया है, पर पुरुष (चित्) के बिना वह अव्यक्त भी है। इस रूप में उसका होना नहीं–होने जैसा ही होता है, एक संभावना ही रहता है। विषयी के समावेश से (जो कि सांख्य में एक रहस्य ही रहता है) जड़ अव्यक्त प्रकृति विषय का रूप ले लेती है, उसका होना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय के रूप में ही होता है, जो कि रूप लेने की प्रक्रिया, परिणाम और प्रयोजन में स्पष्ट है। हां, यह परिणति काल में नहीं होती, काल का भी होना विषय–विषयी भाव के साथ ही होता है। यह परिणति और भी गहरी है– स्वरूप से ही तात्त्विक है और विषय–विषयी भाव को सृष्टि–तत्त्व के मूल में रखती दिखती है। विषय–विषयी भाव की तात्त्विकता यहां जीव–चेतना को जगत् का आधार ठहराती लगती है। पर यहां जीव मात्र और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं किया गया है, और सच पूछिये तो विषय–विषयी भाव यहां मनुष्य का आत्मचेतन, प्रत्यक् विषयी की ओर उन्मुख विषय–विषयी भाव है (तभी भोग के साथ अपवर्ग को प्रकृति का ध्येय कहा जा सकता है)। बल्कि इससे भी आगे बढ़ कर कह सकते हैं कि विषय–विषयी भाव यहां मनुष्य को ही नहीं, मनुष्य व्यक्तियों को ऊह्य रखता है। वह व्यक्ति की आत्मचेतना में उभरता विशुद्ध विषयी की ओर प्रत्यक् निवृत्त विषय–विषयी भाव है। पुरुष–बहुत्व की धारणा से यही अनुमित होता है। यों सांख्य के लिये जगत् का मूल ही नहीं, जगत् का स्वरूप भी विषय–विषयी भाव में है, पर इस भाव का लक्ष्यार्थ, इसका परम–पुरुषार्थ, विषयी चित् को विषय के जड़त्व–बंध से मुक्त कर देना है। अर्थ का संधान यहां प्रकृति–स्थित है, पर वह प्रतिफलित मनुष्य व्यक्ति की आत्मचेतना के विषय–विषयी भाव में होता है, जो कि प्रकृति का ही परिणाम है। प्रकृति का जगत् के सारे संभार के साथ व्यक्त रूप लेना (होना) ही नहीं, उसका सारा व्यापार भी पुरुष (चित्) के निमित्त है, वरना उसके होने का ही कोई अर्थ नहीं। विषय–विषयी रूप प्रकृति एक ओर पुरुष को भोग के रास्ते अपने से बाँध रखती है, तभी वह बनी रहती है, पर दूसरी ओर उसका परम (वास्तव) लक्ष्य अपने विषय–विषयी भाव में निमग्न विशुद्ध निर्विषय विषयी (पुरुष) से अपने को हटा कर उसे कैवल्य दे देना है। प्रकृति (और यों जगत्) यहां मिथ्या नहीं, हालांकि स्वरूपतः जड़ है, और यों अपने आप में निरर्थक है, पर वह रूप सार्थक होकर ही लेती है और उसकी सार्थकता पुरुष के लिये है, जिस सार्थकता की चरम अवाप्ति पुरुष को अपने (जगत् के) बंधन से मुक्त कर देने में है।

यह ज़गत् के स्वरूप के बारे में बड़ी गहरी सूझ की दृष्टि है जो मनुष्य को और उसकी आत्म–वीक्षण करती आत्मचेतना के प्रत्यक्–भाव को केन्द्र में रखती है। यह दृष्टि प्रत्यक् विषयी को तात्त्विक स्तर पर जगत् से पूरी तरह बाहर रखना चाहती है, पर इस सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के साथ कि जिज्ञासा, संधान आदि जगत्–भीतर रहते हैं। यह जगत् को मिथ्या नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहती, उसे जड़ कहते हुए भी सार्थक, सोद्देश्य पाती है, चित् के बिना उसे संभव ही नहीं मानती। अपने विषयी–हीन विशुद्ध जड़ रूप में उसे अव्यक्त संभावना ही समझती है। पुरुष यहां जगत्–निहित अर्थ के उद्देश्य का प्रयोजन प्रयोक्ता और प्रयोज्य बन कर सृष्टि को संभव ही नहीं अर्थवत् बनाता है।

पर यों भी देखिये कि सांख्य का विषय–विषयी भाव अगर मनुष्य की आत्मचेतना को प्रतीक बनाता है तो उसमें अर्थ का एक ऐसा आयाम देखा जा सकता है जो सांख्य देखता नहीं है। सांख्य जब यह कहता है कि प्रकृति (जगत्) पुरुष (चित्) के भोग और अपवर्ग (मुक्ति) के लिये है तो भोग के अर्थ को मोक्ष के बंधन के रूप में हेय कर देता है। पर भोग की धारणा को एक ऊर्ध्वतर, विस्तृततर क्षितिज भी दिया जा सकता है (और मैं समझता हूं, दिया जाना चाहिये)। भोग को वासना के साथ जोड़ते हुए उसे संकुचित और यों ऊर्ध्वतर संधान का शत्रु ही क्यों समझा जाये? यह आवश्यक नहीं लगता। अगर भोग पुरुष का अर्थ है, तो मनुष्य में पनपते प्रकृतिगत पुरुष के अर्थ–संधानों को देखिये, मनुष्य की विस्तृत, ज्ञान, भाव, कर्म पर व्यापक अर्थ–साधना को लक्ष्य कीजिये, जो कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, व्यवहार के आदर्शों में... रूप लेती है। 'भोग' के इस विस्तृत ही नहीं, ऊर्ध्व–प्रसारित आयाम को भी उसी संधान का लक्ष्यार्थ समझना चाहिये जिसे सांख्य भोग का सार्थकता–हीन नाम देता है। सांख्य की मोक्ष–दृष्टि में ये पुरुष के तात्त्विक स्वरूप के लिये बंध ही सही, पर इनकी भी संभावना विषय–विषयी के उस युगल–भाव में ही घर करती है जो जड़ अव्यक्त प्रकृति को व्यक्त करता हुआ उसे अर्थ और उद्देश्य देता है। सांख्य विषयी (या चित्) से युक्त विषय–भाव को अर्थ–संधानी ठहराता है (यह भाव सांख्य दृष्टि में विशुद्ध विषय भाव नहीं, विषय–विषयी भाव ही होता है) पर इस भाव में अर्थ–संधान के जो स्तर–भेद उभरते हैं, उसकी ओर से आँख मूंद लेता है। सांख्य के लिये प्रकृतिगत कोई भी अर्थ–संधान बंध ही है, पर बंध तो अपवर्ग–साधना भी है, उसमें भी पुरुष प्रकृति–निमग्न ही रहता है।

यों इस दृष्टि को एक नई व्यापकता के साथ भी देखा जा सकता है जहां विषय–विषयी भाव के अगाध में उतरती यह दृष्टि मनुष्य की प्रत्यक्–मुड़ती आत्मचेतना के जिज्ञासा–संधान की समग्र भूमा को व्यापक रूप से नाभि में रखती दिख सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सांख्य दृष्टि में सार्थकता की ऐसी संभावना है जो मायावादी दृष्टि में नहीं उभरती दिख सकती। स्पष्ट ही, मायावादी जगत्–मिथ्यात्व की चिन्मात्र–को–सत्–मानती अद्वैत दृष्टि के लिये भी जगत् विषय–विषयी भाव ही है। जगत्–सृष्टि यहां भी अस्मद्–युष्मद् को (विषयी–विषय को) युगनद्ध कर (मिथुनीकृत्य) ही बनती है। यहां भी विषयी (अस्मद्–भाव) विषय–दिग्ध, विषय–मग्न रहता है, आत्म (विशुद्ध चित्) अपने को अनात्म (युष्मद्–रूपी विषय–जगत्) से एकीकृत पाता है। पर जगत् यहां तात्त्विक नहीं, मिथ्या है, विशुद्ध निर्विषय विषयी है, सत्–चित् पर असत् का अध्यास, या सत् का असत् से युगल–भाव कहिये। असत् माया है, यों जगत् दिखता है, पर है नहीं। पर अर्थ–संधान (मोक्ष–संधान) तो यहां भी माया–दिग्ध विषयी ही करता है। ब्रह्म या प्रत्यक्–आत्म, ये संधानी नहीं हो सकते। बल्कि सांख्य से हटती इस दृष्टि में संधान का, किसी भी सार्थक संधान का, कोई अपना होना नहीं बनता।

इन दोनों दृष्टियों में जगत् विषय–विषयी भाव रूप तो ठहरता है, पर दोनों ही के लिये जगत्–की–सृष्टि–करता, उसे रूप देता, यह विषय–विषयी भाव अनचाहा भी उभरता है। पर यह भी सोचिय, विषय–विषयी–भाव को इस भाव से मुक्त चित्–सत् का बंध ही क्यों माना जाये? इसके बिना चित् का होना भी क्या होगा? वह हो भी तो सर्वथा अव्यक्त ही होगा। उसका होना, न–होना एक ही होगा। विषय–विषयी भाव को, और यों सृष्टि को, चित् के होने का ही स्फुरण क्यों न समझा जाये–अर्थोन्मुख आत्मस्फुरण, स्वतंत्र आत्म–सृष्टि! इसके बिना चित् होगा ही क्या, उसके होने का अर्थ ही क्या होगा? यह ठीक है कि वह दूसरा भी रूप ले सकता था, पर उसका होना कोई सार्थक–रूप–लेता आत्म–सृजन ही हो सकता था। और आत्म–सृजन अपने को अपने आप से अलग कर, अपना विषय बना कर ही हो सकता है। यों, जगत् का होना, हमारा (मनुष्य का) जगत् में होना, मिथ्या या निरर्थक क्यों? सृष्टि को (जगत् को) अर्थ–संधान की संभावना के बीज के रूप में भी देखा जा सकता है। हम अपने अर्थ–संधानों को, उनमें पनपती अर्थ–सृष्टि की अनंत, अगाध संभावनाओं को ध्यान में रखें तो ऐसा ही तत्त्व–चित्र उभरता जान पड़ता है। हमारी आत्मचेतंना में चेतना का जो प्रत्यक्–भाव उभरता है वह किसी विशुद्ध विषयी या चित्–मूल तक जाता ही नहीं दीखता, उस मूल से उभरता भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जान पड़ता है। उसका यह आत्म–विकीरण विषय–विषयी भाव का रूप लेता है और अर्थ–संधान के आयाम पालता है, जिन्हें चित् की स्वतंत्र अर्थ–सृष्टियां कहा जा सकता है। अर्थ का संधान और अवगाहन विषयी के साथ विषय के मिथुनीकरण को ऊह्य रखता है। अपने आप में विषयी या चित् अर्थ का अव्यक्त स्रोत ही हो सकता है, अर्थ नहीं। यों विषय को विषयी (या चित्) का अर्थ–रूप आत्म–सृजन, आत्म–विस्तार का द्वार समझा जा सकता है। जगत् के होने में अगर जगत् का सार्थक होना भी शामिल हो, तो विषय–विषयी–भाव को मिथ्या या निरर्थक मानती दृष्टियों से हमें असंतोष ही होगा। हमारे जगत्–में–रहते अर्थ–संधान, कला, दर्शन, विज्ञान, यहां तक कि अध्यात्म साधना भी, ये सारे संधान, इनसे बनते अर्थ–लोक, ये सत् से च्युत ही ठहरेंग और जगत् में हमारा होना ही तात्त्विक अर्थ में यादृच्छिक या आगन्तुक रह जायेगा।

निःसंदेह, सृष्टि का होना, जगत् का होना, उसका स्वरूप, एक अगाध रहस्य ही है, पर हम उस रहस्य को समझना भी चाहते ही हैं। तलस्पर्शी दृष्टि–भेद यहां हमारी समझ को ही नहीं, संधान–भेद को भी आधार बनाता है। पर एक बात और देखिये, जगत् के होने के रहस्य को समझने का प्रयास हम ही (मनुष्य ही) कर सकते हैं, जिनकी चेतना जगत् से हट कर, तटस्थ हो कर उसे देख पाने में समर्थ होती है, या यों कहिये कि जहां विषयी भी विषय हो सकता है। पर यह चेतना भी चित् के ही आत्म–सृजन का उन्मेष है। हम में जो जगत् के भीतर रहते हुए भी आत्म–वीक्षण–करती, जगत्–का–वीक्षण–करती, अपना–और–जगत्–के–अर्थ–का–संधान–करती चेतना है, वह हममें आई है, अवतरित हुई है। या यों कहिये कि हममें सृष्ट हुई है। पर यह चेतना वीक्षण ही नहीं करती, सृजन–करती चेतना भी है। इसे विषय–विषयी भाव में ही आया एक नया विस्फोट कह सकते हैं, जहां पशु के इन्द्रिय–लोक से ऊर्ध्वतर अधिक चिन्मय लोकों के दिगंत खुलते दीखते हैं– कला, दर्शन, विज्ञान जैसे अर्थ–लोक इसी प्रत्यक्–मुड़ते विषय–विषयी भाव के साथ प्रस्फुटित होते हैं, उसके सृजन हैं। सृजन के इन अर्थ–लोकों को जगत्–मिथ्यात्व या जगत्–जडत्व में अपचित कर देना घोर अतिचार ही लगना चाहिये, जैसा कि विषय–विषयी भाव को माया या प्रकृति कह देने में निष्ठ है। यह सच है कि विषय–विषयी भाव में जो अर्थोन्मेष–पालता सृजन–बीज देखा जा सकता है वह चित्–सत् ही हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है, क्योंकि जड़ के सार्थक सृजन की बात ही वृथा है, सृजन को मिथ्या या निरर्थक कहना यों भी वदतोव्याघात जैसी बात है। मिथ्या को सृजन कहना अपचार ही होगा, तभी मायावाद, या प्रतीत्यसमुत्पाद, दोनों अपनी तरह से सृजन के वास्तव होने का निषेध ही करते हैं। सृजन असार्थक हो तो यादृच्छिक, निष्प्रयोजन, और यों निरर्थक और असत् ही हो सकता है, और तब हमारी चेतना यहां अपने को भयग्रस्त ही पायेगी और इस निरर्थक भव–चक्र से निकलने का ही रास्ता खोजती रहेगी। या फिर हम जो स्वभाव से जिज्ञासा, संधान और अर्थ–सृजन करते हैं, हम अपने होने में ही अभिशप्त होंगे।

एक और बात जो हम देख आये हैं, यहां फिर लक्ष्य करें। मायावाद या सांख्य जिस विषय–विषयी भाव को जगत्–सृष्टि के केन्द्र में रखते हैं, वह मनुष्य का विषय–विषयी भाव है (जहां विषयी स्वरूप से ही आत्म–वीक्षण–करता प्रत्यक्–स्वरूप होता है), चाहे इन दृष्टियों में इस भाव से मुक्ति को ही श्रेय माना गया हो। पर मनुष्य जैसा विषय–विषयी भाव–जीव मात्र में नहीं है। इस भाव की उन्मेष–यात्रा की ओर भी ध्यान दें। मनुष्य के व्यक्तिभाव को समझने के लिये भी इधर अवधान देना उचित होगा। हम देखते हैं कि विषय–विषयी भाव जीव मात्र में पाया जाता है, उसके बिना जीव–भाव अकल्पनीय है। पर मनुष्य से इतर जीवों का विषयी सर्वथा विषय–उन्मुख, विषय–निमग्न ही रहता है; उसकी अपनी स्वतंत्रता, अर्थ–संभावना की दिशायें, अत्यंत संकुचित रहती हैं; इन्द्रिय–सीमित, जिजिविषा–की–वासना–में–निमज्जित रहती हैं। उसका विषय–बद्ध विषयी–भाव ही उसे सीमित रखता है। आत्म–वीक्षण के अभाव के कारण उसमें कोई अपनापन, कोई आत्म ही रूप नहीं लेता। जीव–व्यष्टि की प्रवृत्ति उसके जीव–भाव द्वारा उसके बाहर से संचालित होती है, उसमें व्यष्टित्व ही होता है, व्यक्तिभाव नहीं होता, और उसका व्यष्टित्व अपने से अतिक्रांत तज्जीव–सामान्य भाव (या प्रत्यय) द्वारा संचालित होता है, उसमें सामान्य से स्वतंत्र, व्यष्टित्व से प्रत्यक्–स्थित व्यक्तिभाव देती आत्मचेतना नहीं होती। जबकि मनुष्य का विषयी विषय से निवृत्त हो कर, अपने अहं–भाव से तटस्थ रह कर, अपने को, अपने अहं को, देख सकता है। मनुष्य–विषयी की यह आत्मनिवृत्ति, उसका अपनी ओर मुड़ कर अपने को विषय बना पाना, उसे अन्य जीवों से सर्वथा क्रांत रूप में भिन्न कर देता है। इसे चेतना या चित् के विषय–निमग्न विषयी–भाव का अपनी ओर मुड़ कर प्रत्यक् हो जाना, उसमें आत्मचेतना का उदय कह सकते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। यही मनुष्य के व्यक्तिभाव का भी बीज है। मनुष्य में आकर जीव का अहं–भाव ऐसे अस्मद्–भाव का रूप ले लेता है जो अपने को देखता हुआ अपने आप को पाता है। आत्मचेतना उसमें यह आत्म–भाव जगाती हुई जागती है। पर आत्मचेतना के साथ, विषयी भाव में प्रत्यक् चेतना के उदय के साथ ही, वह सिद्ध से साध्य भी हो जाता है। अब वह आत्म–नियोजन, और यों आत्म–निर्मिति का पात्र हो पाता है, उसमें स्वतंत्र संधान करती अर्थ–चेतना जागती है, वह अपने होने के अर्थ की, जगत् के होने के अर्थ की, जिज्ञासा करता है, खोज करता है। स्पष्ट ही, यह विषय–विषयी भाव में एक नई दिशा का, नई चेतना का उदय है। तभी अब यह भी देखा जा सकता है कि मनुष्य में आकर चेतना अपने पूर्व–सिद्ध जीव–भाव में दोष की उपलब्धि करती है, उसे अपने वास्तव स्वरूप और अर्थ के अननुकूल पाती है। आत्मचेतना के साथ ही उसमें श्रेय–बोध घर करता है, और वह अहिंसा, लोभ, क्रोध, मोह जैसी जीव–जिजीविषा में बसी सहज प्रवृत्तियों को हेय मानने लगता है, इनसे हटने में भी समर्थ हो पाता है। श्रेय इन प्रवृत्तियों से ऊर्ध्वतर रहता साध्य होता है; जिसे वह अपने वास्तव, अपने सत्–स्वरूप के रूप में देखता है। यों आत्मचेतना के साथ मनुष्य के स्वरूप में ही साध्यता घर कर लेती है। वह जिजीविषा से ऊर्ध्व अर्थों का संधानी हो जाता है; आत्मचेतना के प्रत्यक्–भाव में साध्य अर्थों का क्षितिज पाता है। मनुष्य में अपूर्व श्रेय–बोध का उदय, उसको सिद्ध से साध्य बना देता है, पर साथ ही साध्यता के दूसरे आयाम, कला, दर्शन, विज्ञान.. ये भी सदर्थ के रूप में साध्य हो जाते हैं, साध्यता का अगाध पालते उभरते हैं। पर कह सकते हैं कि मनुष्य का श्रेय–बोध उसकी साध्यता का सबसे उजागर प्रतीक है, जीव मात्र से उसे भिन्न करता व्यावर्तक धर्म है। श्रेयबोध मनुष्य के सब अर्थ–संधानों में बना रहता है और उसे अपने स्वरूप या सत्य से संश्लिष्ट दिखता है।

स्पष्ट ही यह चेतना के विषय–विषयी भाव में ही एक अपूर्व क्रांति का लक्षण है। इस क्रांति का बीज है जीव–सुलभ अहं–भाव से निवृत्त हो कर उसे देख पाना– अहं के भीतर ही प्रत्यक्–अहं का एक अद्भुत द्वैधीभाव। पर यही आत्मचेतना की नींव भी है जो मनुष्य–भाव को आधार देती है।

लग सकता है (अब तक की बातों से भी उभर सकता है) कि आत्मचेतना मनुष्य–व्यक्ति में रहती है। अपने आत्मबोध के अनुभव को आधार बनायें तो यहां तक लग सकता है कि यह चेतना व्यक्ति की होती है;

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसका अपना स्वत्व, जिसका वह स्वामी होता है, और यों इस अर्थ में उसकी अपनी प्राप्ति या उपार्जना। बात को युक्ति का आधार देने के लिये कहा जा सकता है कि तभी तो आत्मचेतना का अनुभव मनुष्य–व्यक्ति को ही होता है, वही अपने अस्मत् का द्रष्टा होता है, और इस द्रष्टा–भाव का ज्ञाता, और यही आत्मचेतना का लक्षण है। पर थोड़ा भी गहरे उतर कर देखें तो यह चेतना मनुष्य–व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। इसे चेतना (या चित्) की सृजन–यात्रा में ही नया मोड़ कहना चाहिये, जो मनुष्य के जाति–भाव पर व्याप्त होता हुआ व्यक्ति में घर करता है। तभी व्यक्ति रूप मनुष्य ही नहीं, समष्टि (समाज) रूप मनुष्य भी साध्य होता है। श्रेयबोध मनुष्य का जातिगत धर्म है; समाज–व्यवस्था, उसका व्यवहार, उसका का अंतस् जो संस्कृति में रूप लेता है, ये सतत साध्य ही होते हैं, अपने रखरखाव में भी, और अपने अभ्युदय के लिये भी। श्रेयबोध को आंतरिकता का (अंतः–स्वरूप का) लक्षण कह सकते हैं और फिर यह कह सकते हैं कि व्यवस्था और व्यवहार, ये संस्कृति के ही रूप होते हैं। यों संस्कृति स्वरूप से ही आदर्श पालती है, जिजीविषा से ऊर्ध्वतर पुरुषार्थ साधती है। तभी मनुष्य की समष्टि–गत रहनी के अर्थ और काम को धर्म के बिना आकलित नहीं किया जा सकता। आत्मचेतना के साथ मनुष्य–भाव में ही चेतना की संभावना का अपूर्व क्षितिज खुलता है और वह व्यक्ति और समाज दोनों पर व्यापक होता है। आत्मचेतना मनुष्यभाव में रूप लेती हुई उस भाव की संपूर्णता में साध्य का आकाश ला देती है, या यों कहिये कि मनुष्य–भाव के सर्वस्व को अपनी साध्यता का माध्यम बना देती है।

हम पाते हैं कि श्रेय–बोध के साथ चेतना में ज्ञान, भाव, कर्म और इनकी अर्थमयता के जो दिगंत उभरते हैं, उसका उभार व्यक्तियों में ही नहीं, समाजों में घर करता है। बल्कि, व्यक्तियों में समाज के माध्यम से ही घर करता है। इस बात का एक मूल लक्षण मनुष्य में भाषा का होना है, जो आत्मचेतना के साथ ही प्रकट होती है और इस चेतना की वाहक होती है। भाषा व्यक्ति–निष्ठ नहीं होती, हो ही नहीं सकती। मनुष्य–समाज के बिना भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती, और समाज के बिना भाषा–में–पले, भाषा–के–माध्यम–से आत्मचेतन व्यक्ति की। मनुष्य शिशु को समाज का परिवेश न मिले तो वह मनुष्य व्यक्ति नहीं बन सकता। पशुओं के बीच यदि वह बचा भी रहे तो पशुवत् ही होगा (ऐसी कहानियां मिलती ही हैं)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाषा स्वरूप से ही सामान्य होती है, जो सामान्यता मनुष्य–व्यक्ति को भी अन्य–सामान्य बना देती है। व्यक्ति की भाषा–निष्ठ आत्मचेतना में इस सामान्यता का स्पष्ट और तलग्राही इंगित है। व्यक्ति की आत्मचेतना भाषा को आधार बनाती है, और भाषा विशेष नहीं सामान्य के बोध में घर करती है। बोध की सामान्यता का यह आयाम व्यक्ति के स्व–बोध को ही सामान्य–निष्ठ कर देता है। इस बात का लक्षण भाषा में स्पष्ट है। हम अपने भाषा–प्रयोग में पाते ही हैं कि व्यक्ति अपने अस्मत् को अन्यों के अस्मत् में एक पाता है, अस्मद्–सामान्य का एक विशेष। मैं अन्य व्यक्ति के लिये भी 'मैं' का प्रयोग कर सकता हूं, अपने लिये 'वह' का प्रयोग कर सकता हूं (बनारसी दास ने अपनी प्रसिद्ध आत्मकथा, अर्धकथानक, में अपने को 'बनारसी' ही कहा है, अन्य मनुष्य–व्यक्तियों में एक व्यक्ति)। भाषा में रूप लेता, अस्मद्–भाव का यह अन्य–साधारण सामान्य बोध मनुष्यभाव की आत्मचेतना के स्वरूप में निष्ठ है। तो फिर कहना न होगा कि आत्मचेतना व्यक्ति–अवच्छिन्न स्व–संवेद नहीं कही जा सकती, जहां आत्मचेतना का अर्थ स्व–बोध या 'स्व' के वीक्षण तक संकुचित हो। मनुष्य के स्व में ही आत्मचेतना का आयाम निःस्व की (स्व मात्र से परे की) की जो सामान्यता लाता है, वही उसे पशु–व्यष्टि से उठा कर व्यक्ति बनाता है। मूल बात यहां यह है कि यह आत्मचेतना मनुष्य–भाव–निष्ठ होती है और व्यक्ति में इसी द्वार से आती है, उसकी अपनी लाई नहीं होती। आत्मचेतना में स्वरूपगत सामान्यता होती है, व्यक्ति व्यक्ति बनता ही इसके होने से है। वह अपने में व्यक्तिभाव उपजाता नहीं। मेरा अस्मद्–बोध जिस आत्मवीक्षण में बसा होता है, वह वीक्षण ही सामान्य–निष्ठ होता है, तभी 'मैं' एक सर्वनाम होता है।

पर एक और गहरी, सामान्यता–घिरी बात को लक्ष्य करते चलिये। मेरा मामूली वस्तु–बोध भी 'मेरा' ही नहीं होता, अन्य–सामान्यता को ऊह्य रखता है। केवल मेरा हो तो मैं उसे भ्रांति या छलावा या किसी और अर्थ में अवस्तुतंत्र समझूंगा, जैसे सपना या द्विचंद्र। वस्तु मैं उसे ही समझता हूं जिसे मेरे जैसे दूसरे भी तद्वस्तु के रूप में देख पायें। मेरे वस्तु–बोध में यह अपेक्षा वस्तु–बोध–निविष्ट रहती है। मेरे सामने दिखती आँगन में खेलती चिड़िया केवल मुझे ही दिखे, और किसी को अवधान के साथ देखने पर भी न दिखे, तो मुझे अपने देखने पर संशय होगा। यों, मैं अपने वस्तु–बोध की प्रमा में ही अन्य को, मनुष्य–भाव सामान्य को और उसके सामान्य वस्तु–बोध को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊह्य रखता हूं। मेरा बोध अन्य–सामान्य न हो तो उसके सत्य का मुझे ही धोखा होगा, सोचूंगा कि मेरा देखना कपोल–कल्पना के किसी मोह में मड़ गया है। यहां मेरे इस अनुभव को भी लीजिये। मुझे आँखों के आगे तैरते हुए विशेष आकृति के जाले दिखते हैं, सदा दिखते हैं और उन्हीं आकृतियों में, उस एक ही गति–प्रकार से इधर–उधर घूमते दिखते हैं। ये न सपना हैं, न रज्जु–सर्प जैसा भ्रम, इनमें एक स्थायी रूप और गति की योजना है जो बनी रहती है, वैसे ही जैसे बाहर–दिखती वस्तुओं में। पर मैं जानता हूं कि ये आकृतियां, इनमें बसी योजना, वास्तव नहीं है क्योंकि मुझे ही गम्य है, अन्य को नहीं। ये सजे–सजाये जाले मुझे क्यों दीखते हैं, इसके उत्तर में चक्षु–दोष की बात की जा सकती है। पर ये आकृतियां अगर औरों को भी वैसे ही दिखने लगें जैसे मुझे दिखती हैं, तो बात 'ये क्यों दिखते हैं' की नहीं रहेगी, 'ये क्या हैं' की हो जायेगी, क्योंकि तब ये वस्तु होंगी और जिज्ञासा वस्तु–रूप में इनके स्वभाव और पहचान की होगी और दूसरी अपने–आप–में–स्थित वस्तुओं से इनके संबंध की, जगत् की वस्तु–योजना में इनके स्थान की। ऊपर हम आत्मचेतना के साथ चेतना में श्रेय–बोध के उदय की बात कर आये हैं, कह आये हैं कि यह बोध भी मनुष्य–व्यक्ति का ही नहीं, मनुष्य–भाव का लक्षण है रु तभी मनुष्य–समाजों का आधार अर्थ और काम ही नहीं, धर्म होता है। स्पष्ट ही अपूर्वता यहां धर्म के होने में है जो चेतना ही में नये अर्थोन्मेष का इंगित है। मनुष्य से पहले के जीव–भाव में इसका अभाव ही दिखता है। पर इसे बुद्धि का अभाव नहीं कह सकते, अगर बुद्धि का संबंध योजना और व्यवस्था से है। व्यवस्था तो जगत् में ही दिखती है, जीव–जगत् में इसका समूहगत रूप स्पष्ट है, जहां अर्थ–काम–निष्ठ व्यवस्था जातियों को, समूहों को संहति देती है, एकसूत्रता में पिरोती है। इसके बड़े सुयोजित रूप भी पाये जाते हैं। चींटियों, मधुमक्खियों जैसे जीवों में तो अर्थ की (समष्टि–स्थित व्यवहार–योजना की) पराकाष्ठा के साथ पाये जाते हैं। पर यहां जीव–स्तर पर श्रेयबोध का कहीं इंगित नहीं मिलता। पर मनुष्यभाव इसके बिना अकल्पनीय है। मनुष्य–समाज केवल अर्थ–काम पर आधारित होते ही नहीं, धर्म–बोध (औचित्य–बोध) के बिना उनकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह भाषा की तरह ही मनुष्य–भाव का जातीय लक्षण है। तभी मनुष्य का आदर्श अर्थ–काम ही नहीं, धर्मानुकूल अर्थ–काम होता है, चाहे बहुत दूर तक यह आदर्श आदर्श ही रहता हो। आत्मचेतना के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ धर्म–बोध का उदय मनुष्य–समाजों को साध्य ही नहीं बना देता, इस साध्यता में अब तक की सहज जातिगत (और यों व्यष्टिगत) प्रवृत्तियां, हिंसा, स्वार्थ, निरी इच्छा–तंत्रता, ये संदिग्ध हो जाती हैं, निम्न और हेय ठहरा दी जाती हैं। आत्मचेतन मनुष्य–भाव में भाषा के साथ उभरता यह है बोध और मनुष्य–व्यक्ति को भाषा की तरह ही समाज से संस्कार के रूप में मिलता है।

भाषा और धर्म–बोध को इस गहरे अर्थ में युगनद्ध भी देखा जा सकता है। धर्मबोध धर्म के आदर्शों को जन्म देता है। आदर्श स्वरूप से ही सिद्ध नहीं साध्य होते हैं। तभी, जैसा कि मीमांसक कहते आये हैं, उन्हें प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं जाना जा सकता, वे चेतना की अपनी प्रज्ञा या प्रतिभा में जागते हैं, उनका धारण–वाहन भाषा ही कर सकती है। धर्म के लिये जो शब्द–प्रमाण की बात की गई है, उसको, मैं समझता हूं, इसी रूप में लेना चाहिये।

फिर भी एक हठ पकड़ते हुए दोहराया जा सकता है कि आत्म–वीक्षण (और यों आत्मचेतना) की बात आत्म–बोध के बिना संगत नहीं ठहरती और आत्म–बोध तो व्यक्ति में ही होता है। उसे ही आत्मचेतन होने का साक्षात् अनुभव होता है। निर्वैयक्तिक चेतना–सामान्य में (या चित् में) आत्म–बोध के अनुभव की बात ही वृथा है। अब, अगर आत्मचेतन होने का यही अर्थ लिया जाये तो मनुष्य–जाति को और समाज को आत्मचेतन कहने का कोई अर्थ बनता नहीं दीख सकता। मनुष्य जाति का कोई ऐसा अस्मद्–भाव नहीं होता जहां अस्मद्–भाव में बसा विषयी प्रत्यक् हो कर अपने आप को देखता–भाँपता–बनाता दिखता हो। हम अगर कहें कि इसके बिना 'आत्मचेतना' की बात ही नहीं की जा सकती, तो बात एक शब्द–प्रयोग के झगड़े में ही फँस कर रह जायेगी। हम 'आत्मचेतना' के प्रयोग से चेतना के जिस अर्थोन्मेष की ओर संकेत कर आये हैं, वह नहीं किया जा सकेगा। मनुष्य की अस्मद्–भाव–वीक्षण करती चेतना को चेतना में नई उभरती आत्म–दृष्टि के एक लक्षण या प्रतीक के रूप में ही देखना–समझना चाहिये। यों, 'आत्मचेतना' को व्यापक अर्थ में लेना चाहिये। 'आत्मचेतना' के विराट् चित्–गत रूप को इस शब्द से अभिहित करने का अर्थ यह लेना चाहिये कि चेतना अब, या यों कहिये कि विषयी–चित् अब, विषय–निमग्नता से उबर कर अपने ही विषयी–गत अर्थों के प्रति उन्मुख होता है, उन अर्थों को साधता है जो अब तक नहीं थे। यों आत्मचेतना का अर्थ 'अपने को देख पाना' मात्र लें तो बात

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बहुत छोटी रह जायेगी क्योंकि चेतना में प्रत्यक्–भाव का नया अर्थ–स्फोट 'स्व–संवेद' मात्र नहीं है। आत्मचेतना का निहितार्थ है चेतना में एक नये अर्थमय धरातल का प्रकट होना जो आत्मसाध्यता की संभावनाओं का एक नया आयाम ले कर आता है, आत्मार्थ की साध्यता का एक अपूर्व उन्मेष, जैसा कि कर्म, भाव और ज्ञान के अर्थलोकों में रूप लेता दिखता है। मनुष्य–व्यक्ति में ही नहीं, मनुष्य–भाव में दिखता है। अर्थ–साधना के ये लोक सामान्य लोक हैं, व्यक्तिगत नहीं, मनुष्य–भाव में उन्मीलित ये लोक मनुष्य–समाजों के बिना निरालंब ही नहीं होंगे, निःस्व होंगे। ये समाजों के भीतर ही रूप लेते हैं, समाजों को रूप देते हैं, समाज में ही अपनी संधान–साधना की परंपरायें, प्रवृत्तियां बनाते हैं, जो व्यक्ति–सीमित न होती हैं, न हो सकती हैं। व्यक्ति के साथ इनकी साध्यता न जन्म लेती है न व्यक्ति की मृत्यु के साथ उसका अवसान होता है। स्वसंवेद के साथ व्यक्ति साध्यता के जिन अर्थों की आहट पाता है, वे चेतना–सामान्य के प्रत्यक्–भाव में घर करते हैं। इसी से यह अनुमान सार्थक होता है कि चेतना–सामान्य (चित् ही) प्रत्यङ्–मुख हो कर, अपने से हट कर, आत्म–निवृत्त हो कर, अपनी ओर देखने–बढ़ने लगता है। मनुष्य व्यक्ति इनमें भाग लेता है, और वह भी तब जब वह अपनी स्वगत प्रवृत्तियों, स्वार्थों से ऊर्ध्व निर्वैयक्तिक चेतना–सामान्य के स्तर पर उठता है जो उसकी नहीं कही जा सकती। अर्थ के संधान, उपलब्धियां, व्यक्ति के स्व से ऊपर उठ कर उस चेतना की अपेक्षा करती हैं जिसे चेतना या चित् का अपना क्षितिज कहना चाहिये। इसे व्यक्ति–गत कहने का कोई अर्थ नहीं बनता। व्यक्ति जिन अर्थों का संधान करते हैं, वे अर्थ व्यक्ति के स्व–निष्ठ नहीं होते (ऐसा अर्थ अर्थ ही नहीं होगा), सामान्य–चेतना–गर्भ होते हैं, मनुष्य–भाव में पलते हैं, इसलिये मनुष्य के समाजों में रूप लेते हैं। ये अर्थ स्वरूप से संभावना–गर्भ भी होते हैं। तभी भिन्न व्यक्तियों में ही नहीं, भिन्न समाजों में भी भिन्न रूप लेते हैं। अर्थ 'मेरे लिये या समुदाय–समाज विशेष के लिये अर्थ' नहीं होता, अपना सत् रखता हुआ मनुष्य मात्र के लिये होता है। 'मेरे लिये अर्थ' स्वार्थ होता है, और स्वार्थ मात्र को अर्थ कहना दुराग्रह ही कहला सकता है। यों अर्थ अपने आप में अर्थ होता है, व्यक्ति–सीमा से ही नहीं समाज–सीमा से भी बाहर चेतना या चित् की संभावना में घर करता है, वहीं से समाजों और व्यक्तियों, दोनों में रूप लेता है। बल्कि बात को कहना यों चाहिये कि अर्थ मनुष्य के माध्यम से साधा जाता है। वह 'मनुष्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का' भी नहीं होता, वह अपने आप में होता है, सत् होता है, तभी अर्थ कहला सकता है, तभी चेतना–सामान्य के लिये अर्थ होता है, या यों कहिये कि चिद्–गत होता है। और तभी हम सहज ही सोच सकते हैं कि अर्थ अर्थ–संधानी चेतना मात्र के लिये अर्थ होता है, अन्यथा भ्रांत होगा, और हमारे संधान का एक बड़ा लक्ष्य ही भ्रांति से बचना होता है, हम कितना बच पाते हैं, यह बात और है। वैज्ञानिक कल्पना में एक आशय बड़ा गहरा पैठा दिखता है, वह यह कि विश्व–ब्रह्मांड के विस्तार में कहीं और भी ऐसे 'उन्नत' जीव हो सकते हैं जिनमें हम जैसा ही सत्य का (अर्थात् विज्ञान ने जो सत्य पाया है और यांत्रिक चमत्कार साधा है, उसका) संधान और उपलब्धि हो, ऐसे अन्यों से संपर्क साधने की चेष्टायें भी होती रही हैं। ऐसे बोध और चेष्टा के पीछे एक अनकही विवक्षा स्पष्ट है। विज्ञान का सत्य मनुष्य–सीमित नहीं है, अपने आप में सत्य है, किसी भी सक्षम चेतना को लभ्य है। पर ऐसे सोचने को विज्ञान तक बाँध देना एक दृष्टि विशेष के प्रति आग्रह का हठ ही है, क्योंकि जो चेतना (आत्मचेतना) जिस सत्य का संधान करती है वह विज्ञान तक सीमित नहीं, चेतना की सभी सत्य–संधानी वृत्तियों पर व्याप्त है; ज्ञान, कर्म, भाव, इन सभी क्षेत्रों में संधान सत्य का ही होता है (और भ्रांति की उतनी ही संभावना बनी रहती है जितनी विज्ञान में)। आत्मचेतना को इस दृष्टि से देखिये तो मनुष्य व्यक्ति की अस्मद्–भाव–का–आत्म–वीक्षण–करती चेतना तो आत्मचेतना का एक शरीर–विशेष द्वारा अवच्छिन्न रूप ही कहला सकता है; और यह अवच्छेद भी व्यापकता को नाभि देता अवच्छेद ही है। शरीर को जो 'घट' कहा गया है, वह यही व्यंजना रखता है। हां, यह कह सकते हैं कि व्यक्ति–चेतना का 'घट' चेतना–सामान्य (चित्) की एक विशेष, अपना–व्यक्तिभाव–रखता घट होता है, उस चेतना को अपनी तरह रूप देता है। विज्ञान, कला, दर्शन आदि में अर्थों का अपनी तरह, अपनी स्वगत शैली से संधान करता है।

तो, आत्मचेतना का आविर्भाव व्यक्तिगत अस्मद्–भाव का आत्म–वीक्षण ही नहीं है, वह चेतना में ही एक नई अर्थ–संस्कृति की उजास है, इसके साथ चेतना में एक नया आत्मगत भूमा का क्षितिज आ खुलता है। मनुष्य–व्यक्ति का आत्म–वीक्षण इसी उभार का एक लक्षण है। व्यक्ति अब जीवों की तरह तत्–जीव–भाव द्वारा संचालित व्यष्टि मात्र नहीं रहता, उसमें आत्मसाध्यता और तदपेक्षित स्वातंत्र्य आ समाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्य व्यक्ति को हम अवयवी कह आये हैं। अवयवी–बोध को हम अपरोक्ष बोध भी कह आये हैं। उसके प्रकारों की भी हमने चर्चा की है। ऊपर के विमर्श से यह भी ध्वनित है कि मनुष्य–व्यक्ति एक व्यापक–विराट् अंतः–सत्त्व रखता विशेष प्रकार का अवयवी होता है। वह चिड़िया जैसा जीव मात्र या हमारी निर्मित वस्तुओं या कलाकृति से भिन्न ही नहीं होता, इनसे ऊर्ध्व होता है। चिड़िया में मनुष्य जैसा अंतः–सत्त्व नहीं होता। और हमारी कृतियों के अवयवित्व की निर्मिति या ग्राहकता के लिये जो आत्मचेतन अंतःसत्त्व चाहिये वह मनुष्य को ऊह्य रखता है। निसर्ग–लब्ध सौंदर्य के साथ भी यही बात है। तो, यहां मनुष्य–व्यक्ति के अवयवित्व में उतरने के लिये अवयवी–बोध के विमर्श को फिर से उठा कर बढ़ाते हुए इस बोध की ओर नई दृष्टि डालना उचित होगा। अवयवी–बोध की समझ को एक और आयाम देते हुए चर्चा को आगे बढ़ाता हूं।

ऊपर हम अवयवी–बोध के बारे में यह कह आये हैं कि वह इन्द्रिय–गम्य होता हुआ भी इन्द्रिय–गम्य मात्र के प्रति नहीं होता, पत्थर के ढेले में नहीं होता, पर चिड़िया में होता है (अगर हम यहां सौंदर्य की बात को एक बार अलग रख दें, यों भी हम देख चुके हैं कि सौंदर्य–बोध वस्तु को देश–काल और साधारण वस्तु–बोध के अध्यवसाय से हटा कर एक स्वतंत्र अर्थ–चेतना के ऊर्ध्वतर लोक की वस्तु के रूप में देखता है)। पर पत्थर और चिड़िया, ये दोनों बोध सहज प्रत्यक्ष अध्यवसाय के बोध हैं, और इन्द्रिय को माध्यम बनाते हैं। पर इन दोनों बोधों के वस्तु–ग्रहण में एक गहरा तत्त्व–ग्राही भेद है जो वस्तुओं की कोटियों में ही आधार–गत अध्यवसाय–भेद करता है। इस भेद में एक गहरी वस्तु–स्वरूप–गत पकड़ भी सहज घर करती देखी जा सकती है; जड़ और जीव में सहज तत्त्व–भेद करती अध्यवसाय–दृष्टि। यह दृष्टि अवयवी–बोध में निविष्ट रहती है, और उसे स्तरों में (या क्षेत्रों में) बाँटती दिखती है। पत्थर को हम अवयवी के रूप में नहीं देखते, चिड़िया को देखते हैं। पर हमारे यों देखने में एक तत्त्व–ग्राही दृष्टि निहित रहती है, जो भिन्न वस्तुओं के बीच ही नहीं है, और गहरा तात्त्विक भेद करती है; जड़ और चेतन (जीव) का भेद। अवयवी–बोध के साथ जागता यह जड़ और जीव के बीच का भेद–बोध प्रत्यक्ष अध्यवसाय में बसा भेद होता है। यहां भेद–करते अध्यवसाय के लिये अनुमान–व्यापार को बीच में नहीं आना पड़ता। वह तभी आता है जब भ्रांति हो, पर भ्रांति तो बोध मात्र में निहित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। पर वह अध्यवसाय के सत्य को ऊह्य रखती है। अपने आप में भ्रांति का क्या अर्थ होगा? पर यह भी देखिये कि अवयवी–बोध में जागता और ऐसा भेद–करता अध्यवसाय और भी व्यापक है। हम जड़ और जीव में ही नहीं, मनुष्य और अन्य जीवों में भी सहज भेद करते हैं। दोनों को अवयवी के रूप में देखते हुए ही यह भेद करते हैं। अन्य मनुष्य को हम जीव मात्र नहीं देखते–समझते, उसे अन्य जीवों से बिलकुल अलग रखते हुए आत्मवत्–अन्य के रूप में देखते हैं, उसमें अपना–सा विषय–विषयी भाव सहज ही गोचर पा जाते हैं; इसके लिये भी अनुमान को बीच में नहीं लाना पड़ता। अनुमान का काम तब पड़ सकता है, जब धोखा हो, मनुष्य दिखते हुए भी कोई मनुष्य न हो, पुतला हो या मृत हो, या मृतवत् निःसंज्ञता में लीन।

अन्य (मनुष्य) का यह आत्मवत् बोध हममें इतना रूढमूल है कि दार्शनिकों ने अकसर अन्य के होने को ऊह्य ही रक्खा है, उसकी सत्ता के लिये अलग से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं समझी है। कांट को लीजिये। कांट में यही दीखता है, और यह तब जबकि उसका कर्म–दर्शन (जिसे उसके दर्शन का गहनतम मर्म भी कहा जा सकता है) वह अन्य के बिना बनता ही नहीं। पर उसने अन्य के होने का प्रमाण नहीं दिया है। अन्य व्यक्ति के होने और उसके स्वरूप के संदर्भ में उसके यहां ऐसा कोई कोटि–विचार ही नहीं जैसा कि भौतिक वस्तुओं और उनके संबंधों के विषय में विस्तार से है। पर कांट ने उतने ही विस्तार से मनुष्य के कर्म और कर्म–स्वरूप पर विचार किया है। कर्म में वह अन्य को (भौतिक) विषय से नितांत भिन्न विषयी के रूप में देखता है; उसे विषय–रूप में देखना भ्रांत समझता है। अन्य को विषयी माने बिना कर्म की कोटि ही नहीं बनती। यह कोटि भौतिक कारणता से मुक्त स्वातंत्र्य की कोटि है, जो विषयी आत्मों को उचित परस्पर–संबंध देती है। यों अन्य और उसके विषयी–रूप को वह मान कर चलता है, पर ऐसा अन्य है, वह व्यक्ति–रूप विषयी है, और यों मनुष्य विषयी–आत्मों का एक बहुवचन है, यूथ है, इसकी सिद्धि के लिये वह (जहां तक कि मैं जानता हूं) किसी प्रमाण–चर्चा में नहीं जाता। लगता यही है कि ऐसी सिद्धि के प्रश्न को वह विमर्श योग्य नहीं समझता। वह अन्य के होने को सिद्ध मान कर चलता है, इस होने को सिद्ध करने की बात ही उठाना जरूरी नहीं समझता। यह बोध उसमें दृढमूल दीखता है कि विषयी–रूपी अन्य सहज गोचर है, उसका आत्मवत् विषयी होने का बोध भी हमारे लिये अनायास है, किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुमान–बसे विमर्श का मुखापेक्षी नहीं। सच पूछिये तो हमारे बोध में होता भी यही है। अन्य मनुष्य के प्रति हमारे बोध में उसका हम–सा–होना एक सहज आत्मीय संवेदना में बसा होता है। अन्य के प्रति यह बोध इन्द्रिय–बोध के साथ तद्–बोध–निविष्ट होता है। हम सहज ही उसे अपने जैसे विषयी के रूप में गोचर पाते हैं, जैसे भौतिक वस्तुओं को विषयी–हीन विषय के रूप में। अचंभा नहीं कि भौतिक वस्तुओं के हमारे बोध में एक गहरा परायापन होता है। उनसे हमारा कोई आंतरिक (विषयीगत) तादात्म्य नहीं होता, जो कि अन्य मनुष्य के साथ सहज ही होता है। हम अपने बोध के स्वभाव से ही अन्य व्यक्ति के बारे में 'क्या है' का वैसा प्रश्न नहीं उठाते जैसा भौतिक वस्तुओं के बारे में उठाते हैं। अन्य में हमारा विषयित्व एक सहज संवेदना या अंतः–बोध–गम्य अनुरणन पाता है, अपने को अनायास उसके स्थान पर रख सकता है। इस कारण हम उसके बारे में यह प्रश्न नहीं करते कि 'यह क्या है?' प्रश्न दूसरा होता है, 'यह कौन है?'। जीव में भी हम विषयित्व देखते हैं, उससे अपेक्षया तादात्म्य बोध रखते हैं, पर एक परायेपन के साथ, वैसा घनिष्ठ नहीं जैसा मनुष्य के प्रति। जीव के विषयित्व में विषयित्व का अपना–सा–पन नहीं पाते।

फिर भी एक साक्षात् अंतः–गंभीर तादात्म्य बोध के कारण ही चिड़िया और मनुष्य, दोनों को हम चेतन अवयवी के रूप में देखते हैं, जैसा कि भौतिक वस्तु को नहीं देखते। हमारे देखने के बोध में ही इनका विषय मात्र नहीं, विषयी–रूप–विषय होना निहित होता है, उतना ही अपरोक्ष होता है जितना सुंदर वस्तु में सौंदर्य–बोध। ये सारे बोध इन्द्रिय–संकेत ग्राह्य होते हैं।

हमारा अवयवी–बोध उन वस्तुओं से सहज घनिष्ठ–भाव रखता है जो उसके विषयित्व की अंतरंग होती हैं। तभी यह बोध भौतिक और चेतन में ही भेद नहीं करता, यह हमारी निर्मित वस्तुओं में और उनके भौतिक उपादान मात्र में भी तत्त्व का भेद करता है। (शल्य जी ने यह भेद बड़ी अंतर्दृष्टि के साथ उभारा है)। भौतिक उपादान से बनी कलाकृतियों की और उनसे अपने विषयित्व की निकटता की बात हम कर आये हैं। पर हमारी कृतियों का पसारा और भी फैला हुआ है, कलाकृति तक सीमित नहीं। बरतन से ले कर, घर, नगर, हथियार, यंत्र,... हमारी रहनी–करनी का विलक्षण व्यवहार–जगत् ही ऐसी निर्मितियों के बिना नहीं सोचा जा सकता। हम घट को अपनी निर्मिति के रूप में देखते हैं, मिट्टी को नहीं। पर यहां हमारे देखने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में एक मूलगत तत्त्व–भेद भी है, जिसकी ओर हम नहीं–सा देखते हैं। घट–निर्मिति को हम अवयवी के रूप में देखते है, मिट्टी को नहीं। तभी घट के तत्त्व को मिट्टी ही कह देना, अवयवी की सत्ता के गहरे निषेध में जड़ करता है। यों भी घट, साफ ही, मिट्टी मात्र नहीं होता। हमारी निर्मिति होता है, हमारी कल्पना की प्रसूति! हमारी कल्पना (और हमारे विषयित्व–निष्ठ प्रयोजन) के बिना, वह नहीं हो सकता। उसे मिट्टी कह देना हमारे विषयित्व का, हमारी निर्माण–करती कल्पना का (विचार–चेतना का) ही निषेध होगा। मिट्टी को ही तत्त्व कहनेवाला विचारक ऐसा ही मूलगामी निषेध चाहता भी है (जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं)। पर घट जैसी वस्तुओं के संदर्भ में हम पाते हैं कि जो इनके वस्तुत्व का निषेध नहीं करते, वे भी वस्तु की दृष्टि से घड़े और मिट्टी के ढेले में कोई पते का भेद–सा भेद नहीं करते। पर भेद स्पष्ट है, और तात्त्विक है। पुराकाल की खोज करते खनन में हम साधारण पत्थर के टुकड़े और हथौड़ा या कुछ बनाने के लिये तराशे गये पत्थर दोनों को पाते हैं, और इनमें तत्त्व का भेद करते ही हैं। तराशा हुआ पत्थर हमें मनुष्य का पता देता है, उसकी संस्कृति के साथ जोड़ता हुआ उसके विषयित्व का परिचय समोता है। तभी हम उसको अलग पहचान भी लेते हैं। हमारी निर्मिति–शील कल्पना की आँख ही उससे तादात्म्य साधती हुई उसके निर्मित होने का बोध जगाती है। उसके होने में हम अपनी कल्पना का प्रतिफलन पाते हैं। तभी वह हमारा अंतरंग, आत्मीय होता है। कलाकृति में यह बोध और गहरा होता है, क्योंकि वहां कल्पना भी स्वतंत्र अर्थों के प्रति जागरूक होती है, उपादेयता से अवच्छिन्न–संकुचित नहीं रहती। कलाकृति से तादात्म्य प्रत्यक्–चेतना के उस स्तर का होता है जहां वह जिजीविषा के व्यवहार–कामना प्रेरित तंत्र से उठ कर अर्थ–संधान के स्वायत्त लोक बुनती है।

हमारे अवयवी–बोध में जड़ और जीव का ही नहीं, जीव और कला. ति का भेद भी प्रत्यक्ष गोचर होता है, हालांकि कलाकृति को हम चेतन के रूप में नहीं देखते, जीव को देखते हैं (हां ऐसा हो सकता है कि हम अर्थ की दृष्टि से महत् कलाकृति को जीव से ऊपर रखें, उसे अपनी अर्थ–चेतना के अधिक निकट पायें)।

मनुष्य को हम जीव मात्र से ऊपर रखते हैं। दोनों में विषयित्व के भेद की हम बात कर आये हैं। फिर भी प्रश्न हो सकता है कि क्या मनुष्य और चिड़िया में विषयित्व का भेद भी साक्षात् होता है? क्या यह अनुमान का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय नहीं होता?– चाहे यहां अनुमान भी अनायास होता हो, किसी विमर्श–क्रम की अपेक्षा न रखता हो, या क्रम ही यहां अक्रम जैसा अभ्यस्त, त्वरित हो गया हो। पर मुझे यहां अनुमान की बात सार्थक नहीं दीखती। जीव या मनुष्य में विषयी के अनुमान का अर्थ यह ठहरता दीखता है कि उसका साक्षात् हमें हो ही नहीं सकता, वह अनुमित ही रह सकता है, क्योंकि (अन्य) विषयी का बोध इन्द्रिय–गम्य तो हो ही नहीं सकता। पर हम पाते यह हैं कि अन्य का विषयित्व हमारे लिये उतना ही साक्षात् होता है, जितना कि अपना – इसके बिना प्रेम, मैत्री, सहानुभूति... किसी भी अंतरंग संबंध का अर्थ बनता नहीं दीखता। पर हम ऐसे सौहार्दमय भावों के न लेना चाहें तो द्वेष, घृणा, जिघांसा... को ही लीजिये, इनमें तो अन्य का विषयी–भाव हमें और भी अभिभूत, अभिप्लावित करता है। अन्य जीवों के साथ साक्षात् का यह धरातल नहीं बनता।

हम ऊपर विमर्श कर आये हैं कि वस्तु का बोध तो प्रत्यक्–भाव में बसे वीक्षक विषयी को होता है, इन्द्रिय उस बोध का माध्यम बनती है। वीक्षक विषयी में (इन्द्रिय के माध्यम से) जो वस्तु–बोध जागता है उसी के भीतर अवयवी–बोध रूप लेता है, और इस बोध के भेद भी। इस बोध के साथ ही वस्तु के प्रति तादात्म्य, उसके स्तर और उसके भीतर उभरते भेद जागते हैं। इन्हें चाहें तो अवयवी–बोध की कोटियां कह लीजिये। जड़ के साथ ऐसा तादात्म्य का भाव नहीं जागता। जड़ को हम विषयित्व से प्रतीप और दूर, विषयत्व के छोर पर स्थित कह सकते हैं। तभी हम उसे सिरे से 'पराया' पाते हैं। उसमें भीतर झाँक पाने का, पारदर्शित्व का, अभाव पाते हैं।

हमने यहां इन्द्रिय–बोध के माध्यम से जागते जिन क्षेत्र या कोटि गत बोधों की चर्चा की, इनमें सब में ही इन्द्रियां हमारी विषयीगत वीक्षक चेतना के लिये संकेत के आधार बनती हैं। पर संकेत का अर्थ वीक्षक–चेतना ही करती है, या कहिये कि वही 'वस्तु की कोटि क्या है' का अध्यवसाय करती है। यह अध्यवसाय प्रत्यक्ष बोध ही होता है। ऐसे कोटिगत अध्यवसाय को अनुमान कहना ठीक नहीं, अनुमान–कर्म इस भेद को ऊह्य रखता है, इसे साधता नहीं। इस बोध के साक्षात्–भाव को समझने के लिये अपने स्वगत विषयी के बोध को ध्यान में रखिये। यह अनुमित नहीं प्रत्यक्ष होता है, इन्द्रिय–संकेत की यहां जरूरत नहीं होती। जीवों में और अन्य मनुष्यों में भी उनका तथात्व–बोध प्रत्यक्ष होता है, चेतना से चेतना का साक्षात् होता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर इन्द्रिय के माध्यम से, अन्य शरीर–से–अवच्छिन्न के रूप में, अन्य मनुष्य का ऐसा साक्षात् निकटतम, आत्मवत् होता है।

फिर भी एक आग्रह के साथ कहा जा सकता है कि वीक्षक चेतना उन्हीं इन्द्रिय–संकेतों के जब इतने भिन्न अर्थ, इतने तत्त्वतः परस्पर–विच्छिन्न अध्यवसाय करती है तो यहां प्रत्यक्ष के साथ किसी रूप में अनुमान को माने बिना बात बनती नहीं दीखती। पर हम सौंदर्य–बोध की बात कर आये हैं। इस बोध में हमने देखा कि सौंदर्य को हम सहज ही वस्तु के गुण के रूप में इन्द्रिय के द्वार से ही उपलब्ध करते हैं। इन्द्रिय–संकेत–ग्रहण का स्तर वहां सहज ही चेतना के अपने अर्थों का आत्मीय होता है। मनुष्य–निर्मित उपादेय वस्तुओं में भी हम ऐसी ही प्रत्यक्ष आत्मीयता पाते हैं, चाहे वह सौंदर्य के धरातल तक न पहुँचती हो। निश्चय ही बोध के भेदों में विवेक होता है, पर इस विवेक के लिये अनुमान के सहारे की जरूरत नहीं दीखती। हमारा बोध सहज ही क्षेत्र (या कोटि) और स्तर का भेद करता है। हम विवेक की बात करें तो उसे अवयवी–बोध के भीतर ही स्थान देना होगा। जीव और मनुष्य के भेद को लीजिये। यह भेद साक्षात् वीक्षकता के भीतर ही उपजता अध्यवसाय होता है। पर, हां, हमारा विवेक (कोई भी विवेक) एक संदर्भ में होता है। हमारी वीक्षकता एक विषय–रूप में फैली अर्थ–योजना के भीतर रहती हुई रूप लेती है। इस अर्थ–योजना की संरचना चेतना के मनुष्य–सामान्यगत विषय–विषयी भाव में घर करती है, और उसी में ये भेद जन्म लेते हैं, तभी जड़, चेतन, जीव, मनुष्य जैसे कोटि भेद (या क्षेत्र–भेद) हमारी वीक्षकता में निहित होते हैं, यहां अनुमान जैसी परोक्षता को ले आना अवांतर है। फिर भी प्रश्न हो सकता है कि इतने भिन्न अर्थ वहन करते अवयवी–बोध में भेद–करते–विवेक का कोई और भी (सहायक ही सही) आधार तो होना चाहिये, नहीं तो बात त्रिशंकु सी रह जाती लग सकती है।

लग सकता है कि अवयवी–बोध में भिन्न वृत्तियां निविष्ट होनी चाहियें, जिन्हें भेद के आधार के रूप में देखा जा सके। अन्यथा यह भेद–व्यापार कैसे समझा जाये? एक विशेष वृत्ति की बात की ही जाती है–संवेदना की। संवेदना की बात कला–बोध को अन्य बोधों से व्यावृत्त करने के लिये की जाती है। हम कहते हैं कि कलाकृति के प्रति हमारे बोध में उभरता तादात्म्य–भाव (या उसका अभाव) संवेदना की अपेक्षा रखता है। ऊपर के विमर्श को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि संवेदना अवयवी–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोध के साथ अपृथक्–भावेन युगनद्ध होती हुई कलाकृति की तद्रूपेण ग्राहक होती है। ऐसी ही अवयवी–बोध की सहायक और उसमें भेद का आधार बनती अन्य वृत्तियों की बात की जा सकती है

कला के संदर्भ में संवेदना को एक वृत्ति–विशेष में समझने का एक बड़ा कारण यह है कि कलाकृति का अर्थ साधारण वस्तु ग्राहक अध्यवसाय के माध्यम से नहीं होता, तभी कलाकृति के वस्त्वर्थ को हम देशकाल से परे रखते हैं। कलाकृति के रूप में कृति व्यंजना–ग्राह्य होती है, अध्यवसाय–ग्राह्य नहीं। संवेदना उस वृत्ति को कहते हैं जो व्यंजना का ग्रहण करती है। उसे एक अलग वृत्ति के रूप में मानना इसीलिये सार्थक ठहरता है। यों संवेदना का संबंध अवयवी–बोध के एक क्षेत्र–कोटि विशेष से जुड़ जाता है, और कहा जा सकता है कि संवेदना से संयुक्त हो कर ही अवयवी–बोध अवयवियों के क्षेत्र–विशेष की वस्तु का 'कलाकृति' के रूप में ग्रहण करता है। यहां ग्रहण का द्वार केवल अवयवी–बोध नहीं होता, संवेदना–ग्राह्य व्यंजना होती है जो कलाकृति से निष्पन्न होती है। यों संवेदना–ग्राह्य व्यंजना के रास्ते ही कलाकृति (चाहे वह इन्द्रिय–ग्राह्य, भौतिक वस्तुवत् उपस्थित कलाकृति हो, जैसे मूर्ति, वास्तु, चित्र...) साधारण भौतिक वस्तु–बोध से हट कर, हमारी भाव–चित्त से (सहृदयता से) सम्मुख हो पाती है, तभी बोध 'कलाकृति' का होता है।

यह ठीक है कि कलाकृति या सौंदर्य मात्र के संदर्भ में बोध में किसी बाह्य इन्द्रिय–ग्राह्य वस्तु या घटना के होने की (उसकी सत्ता की) बात नहीं होती, रस जैसे निरध्यवसाय अनुभव की बात होती है। पर एक आपत्ति की दिशा ली जा सकती है। इन्द्रिय–गम्य कलाकृतियों के बारे में कहा जा सकता है ऐसी कृतियों में 'ठोस कुछ प्रस्तुत है, जो अवयवी जैसा लगता है', इसका प्रकट बोध होता है, यों बोध में 'देश–काल–स्थित कुछ के होने' के अध्यवसाय का अभाव नहीं होता। भाषा को माध्यम बनाते कथा, नाटक... के बारे में ऐसे अध्वसाय बोध के अभाव की बात सटीक हो, पर कलाकृति मात्र के लिये नहीं। कथा, नाटक की अभिव्यक्ति के लिये उभारी गई वस्तुओं और घटनाओं के लिये ही यह कहना ठीक है कि इनमें प्रस्तुत वस्तुएं और घटनाएं वास्तव नहीं काल्पनिक होती हैं, तभी उनके प्रति 'सचमुच हैं' यह अध्यवसाय नहीं होता, तभी कथा, नाटक की घटनाओं के प्रत्यक्ष के साथ 'देश–काल विशेष में घटित' का बोध नहीं होता, इन घटनाओं का अपना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देश–काल होता है जो वास्तव नहीं, काल्पनिक होता है। मूर्ति, वास्तु... के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता। वहां वस्तु की ठोस उपस्थिति का बोध भी होता है। पर यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि वस्तु के कलाकृति के रूप में संवेदना–ग्राह्य होते ही, वह व्यंजना का माध्यम हो जाती है, 'देश–काल–स्थित वास्तव कुछ' का बोध विगलित हो जाता है। न हो तो वस्तु 'कलाकृति' की कोटि में ही नहीं आयेगी, संवेदना काम नहीं कर रही होगी। घटित होने को तो नाटक में भी कुछ घटित होता दिखता ही है, कल्पना के ही आगे सही, कुछ घटित तो होता ही है, जिसे धोखा या इन्द्रजाल भी नहीं कह सकते, पर उसे तद्–देशकाल घटित वास्तव समझें तो भ्रांति ही होगी, नाटक की नाटक के रूप में पहचान ही नहीं बनेगी। यही बात मूर्ति, वास्तु... के बारे में सत्य है। चित्र का देश तो साफ ही चित्र का अपना होता है, वास्तव देश नहीं होता। यही बात (इन्द्रिय–ग्राह्य) नाटक के देश–काल के लिये भी सत्य है।

पर हम वृत्ति–विचार की यह दिशा लें तो संवेदना में भी अन्य वृत्तियों (या उपवृत्तियों) की उद्भावना करनी होगी, क्योंकि भिन्न कलाओं में भी ग्राह्य–ग्रहण के गहरे भेद होते हैं। एक मोटा सा भेद तो स्पष्ट है (और ऊपर की चर्चा में आ चुका है)। कलाकृतियां इन्द्रिय–ग्राह्य ही नहीं, अनिन्द्रिय–ग्राह्य भी होती हैं। कलाओं के भीतर ही यह भेद सार्थक है। कथा को लीजिये। नाटक का भी आधार कथा होती है, पर अमंचित कथा के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि कथा के ग्रहण में इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की कोई आवश्यकता होती है। कथा–उपन्यास... ऐसी भाषा–निष्ठ कलाकृतियों में इन्द्रिय को कोई साक्षात् नहीं होता। ऐसे साक्षात् का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि वर्णित वस्तुएं–घटनाएं भाषागत अर्थ के माध्यम से होती हैं जो सामान्य होते हैं और जिनका इन्द्रिय–प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। फिर कथा ऐसी कल्पना में बसी होती है जहां इन्द्रिय–साक्षात् की अपेक्षा ही नहीं रहती। यह बात कथा को शब्द–ग्राह्य अन्य वास्तव–संस्पर्शी अभिव्यक्तियों से भी अलग कर देती है। यथातथ विवरण–वर्णन में, जहां वास्तव वस्तुओं–घटनाओं का ब्यौरा दिया जा रहा हो, वहां अपेक्षा ही दूसरी होती है। वहां भी प्रत्यक्ष इन्द्रिय–बोध नहीं होता, पर वहां हम प्रत्यक्ष को ऊह्य मान कर चलते हैं, उसकी संभावना मानते हैं, विवरण–वर्णन को प्रत्यक्ष–योग्य समझते हैं। जबकि कथा में कल्पित वस्तुओं–घटनाओं को तद्–देश–काल विशेष से बाहर रखते हैं, उनके वास्तव होने की अपेक्षा ही नहीं रखते। यह उनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संवेदना–ग्राह्य होने का ही लक्षण है। पर थोड़ा भी भीतर उतर कर देखें तो भेद इन्द्रिय–अनिद्रिय का है ही नहीं। यह सोचिये– कल्पना–घटित के भी इन्द्रिय–प्रत्यक्ष हो सकने की कल्पना असंभव नहीं है, चाहे कथा का कल्पना–विलास कितना ही उद्भट और परिचित यथार्थ से दूर क्यों न हो। तभी ऐसी कथाओं को भी हम फिल्म का रूप दे सकते हैं, जहां कथा–कल्पित घटनाओं को इन्द्रिय–गम्य बनाया जा सके। सच यह है कि बात यहां इन्द्रिय–गम्यता की है ही नहीं, बात ग्रहण–भेद और ग्राह्य–निहित अर्थ–भेद की है। दूसरे शब्दों में विषयी की विषय के प्रति उन्मुखता में ही यहां भेद उभरते हैं। तभी संवेदना जैसी विशिष्ट वृत्ति की बात सार्थक है। 'कुछ है', इस अध्यवसाय का अभाव, इस भेद का एक गहरा लक्षण है। कथा का अर्थ इस अध्यवसाय पर निर्भर नहीं करता, पर ग्रहण यहां मिथ्या का नहीं होता, संवेदना असत्–ग्राही नहीं होती। उसके ग्रहण का क्षेत्र भिन्न होता है। कथा हो, नाटक हो, या मूर्ति, वास्तु जैसी कला–वस्तु, कलाकृति के रूप में इनका जो कला–क्षेत्र व्यापी विशेष बोध होता है, उसका अपना अर्थ–लोक होता है, उसी के वस्तु–ग्रहण के लिये संवेदना नाम की अलग वृत्ति की धारणा बनती है। वह कलाकृति से निष्पन्न व्यंजना का ग्रहण करती हुई, कलाकृति की अपनी पहचान बनाती है।

पर संवेदना के भीतर दूसरे भेद भी उभरते दिखते हैं। कलाओं के बीच इन्द्रिय–ग्राह्यता का ही नहीं, और भी तल–स्पर्शी भेद किये जा सकते हैं। किये भी गये हैं– जैसे लोक–प्रतिष्ठ और स्वयं–प्रतिष्ठ का भेद (जिसे आज मूर्त और अमूर्त का भेद कहते हैं)। पर उनकी बात यहां अवांतर है। ध्येय यह है कि वृत्ति–विस्तार की दिशा यहां, हमारे इस संदर्भ में, क्या विचार को कोई दृष्टि दे पायेगी? हम वृत्तियों के विस्तार में उलझ जायेंगे। और अगर कला–ग्रहण में ही वृत्तियों–उपवृत्तियों का जाल बिछ जाये तो सोचिये अवयवी–बोध के अन्य क्षेत्रों के लिये कैसा फैलाव करना होगा।

क्षेत्र–भेद ही नहीं, क्षेत्र के भीतर भी हम कोटियों का भेद करते हैं, जैसा हमने कला में किया। विमर्श के लिये यह आवश्यक ही होता है। हर क्षेत्र में उपक्षेत्र बनते हैं। भौतिक वस्तुओं (और संबंधों) का क्षेत्र ही लीजिये जिसे विज्ञान ही नहीं, कई दर्शन भी विमर्श के केन्द्र में रखते हैं। इस क्षेत्र को इन्द्रिय–प्रत्यक्ष का मूलभूत और सम्यक्, अभ्रांत क्षेत्र माना ही जाता है। पर इस क्षेत्र के भीतर भी हम द्रव्य, गुण, कर्म, संयोग, समवाय जैसे गहरे भेद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करते हैं, जिन्हें केवल इन्द्रिय–प्रत्यक्ष और अनुमान के माध्यम से नहीं आँका जा सकता। सच यह है कि हमारा विषय–बोध हमारे विषय–विषयी भाव में गूढ़–रहती सामान्य योजना के भीतर जागता है। अवयवी–बोध इसी चेतना की वृत्ति है। विषयों में, या यों कहिये कि 'विषय–क्षेत्रों में', भेद का आधार यह योजना है, और इसका आत्मचेतन बोध में ऊह्य रहना है। इस योजना को हम समझें कैसे, और विमर्श के स्तर पर योजना के ताने–बाने को समझने के लिये हम विचार का क्या रूप साधें–बुनें, किन प्रत्ययों या कोटियां का सहारा लें, यह बात दृष्टि–भेद और विमर्श–भेद पर निर्भर करती है, पर इसके आधार में रहता क्षेत्र–भेद और तन्निष्ठ योजना–भेद हमारे प्रत्यक्ष की सामान्य भित्ति होती है। भित्ति के रूप में योजना का बोध हमारे प्रत्यक्ष वस्तु–विवेक में निगूढ़ रहता है। इसके लिये अनुमिति का सहारा नहीं लेना पड़ता। अनुमिति भी योजना को ऊह्य रखती है, वह योजना–विमर्श में सहायक होती है, योजना–क्षेत्र को नहीं उभारती।

हमारा बोध हमारे लिये मनुष्य के क्षेत्र को अलग उभारता है। हम जो व्यक्तिभाव पर विमर्श करने बैठे हैं, यहां हमारे विमर्श के लिये बड़ा प्रश्न यह है कि मनुष्य–व्यक्ति जैसे अवयवी को समझा कैसे जाये, उसके स्वरूप को देखा–आँका कैसे जाये?

हम कह आये हैं कि आत्मचेतन मनुष्य–भाव व्यक्ति–सीमित नहीं, समाज–संस्कृति में भी रूप लेता है। पर आत्मचेतना या मनुष्य–भाव को अवयवी कहने का अर्थ नहीं बनता। यह चेतना (या चित्) की व्यापकता में स्थित एक संभावना है जो मनुष्य सामाज–संस्कृति और व्यक्ति में रूप लेती है। अवयवित्व इन रूपों में होता है, चित् की भूमा में नहीं। मनुष्यभाव और उसमें रूप लेती चेतना की व्यापकता की बात हम कर चुके हैं। मैं समझता हूं कि मनुष्य–व्यक्ति को समझने के लिये यह परिप्रेक्ष्य आवश्यक है।

अब मनुष्य–व्यक्ति को लीजिये तो एक बात पहले ही सामने आती है। अन्य जीवों की तरह ही व्यक्ति का देह से अविनाभाव होता है। देह के बिना व्यक्ति का अनन्य–सामान्य रूप बनता नहीं दिखता। पर अन्य जीवों को हम देहात्म कह भी सकते हैं, उसका अंतःसत्त्व क्षीण, जातिगत होता है, पर मनुष्य को नहीं कह सकते। देही के बिना मनुष्य–व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकता, देही के साथ देह अनुस्यूत–युगनद्ध होती है। देह को यहां हम देही के अंग के रूप में देख सकते हैं। न भी देखें तो भी इतना तो साफ ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि व्यक्ति को हम देह–देही के रूप में देखते हैं। पर यह कैसा अवयवी है? देह और देही, या मन, ये परस्पर–भिन्न तत्त्व जान पड़ते हैं। दोनों के विषम मेल से एक अवयवी कैसा? पर यह वैषम्य देह को जड़ मानने पर ही बनता है। पर जीव–देह विषयी होती है, इन्द्रियों के होने से ही यह उभर आता है, ज्ञानेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय के होने में ही जीव–देह का विषयित्व दिख जाता है। पर जीव–विषयी में विषय–अनिविष्ट कोई अपना कोई स्वगत आंतर आयाम नहीं होता। इसके विपरीत, मनुष्य में देही, या विषयित्व कहिये, वह एक अपना एक बहु–आयामी अंतःसत्त्व उभारता रूप लेता है। बल्कि, कहना न होगा, मनुष्य के होने में उसका अंतस, उसका मन, उसका देही, देह से कहीं बड़ा अर्थ रखता है, जैसा कि चिड़िया में नहीं रखता। देही–भाव ही मनुष्य–व्यक्ति को व्यक्ति बनाता है। इसे हम मनुष्य का मनोविग्रह (या चित्तविग्रह) भी कह सकते हैं, जिसका होना मनुष्य में अनन्य है (चाहे इसके कुछ छिटपुट इंगित अन्य जीवों में मिल जाते हों)। मनोविग्रह कई अधः–ऊर्ध्व सूत्रों से गुँथा होता है और इन अंतःसूत्रों का विशेष गुंफ ही व्यक्ति को तद्–व्यक्ति विशेष बनाता है। इस गुंफ के सूत्र सामान्य होते हैं, पर इनकी बुनावट व्यक्ति के तद्–रूप को ताना–बाना देती है।

मनुष्य का देही या मनोविग्रह उसके व्यक्तिभाव पर इतना हावी होता है कि उसकी तत्–देह से इनकार किया जा सकता है (जैसा हम देखेंगे), चाहे देह के बिना हम देही को मनुष्य.व्यक्ति के रूप में नहीं पाते। उसे 'देही' कहना ही देह की स्वीकृति है। कल्पना में भी हम उसे देह–प्रतिष्ठ देही के रूप में ही देखते हैं, देहावच्छिन्न हो कर ही व्यक्ति अनन्य, विविक्त, व्यक्ति का रूप लेता है। विगत के व्यक्तियों को, जिनका हमने देहरूप नहीं देखा, न देख सकते हैं, उन्हें भी हम देह–देही ही मान कर चलते हैं; तभी व्यक्ति को 'देही' कहने में ही 'देह' का समावेश हो जाता है। तो प्रश्न यह बनता है कि मनुष्य को देह–देही के रूप में कैसे देखा–परखा जाये?

देह, देही और इनके संबंध की चर्चा हम आगे कुछ विस्तार के साथ करेंगे। पर, यहां आगे बढ़ने से पहले ही लक्ष्य कीजिये कि देह में ही नहीं, देह–देही युगल में अवयवी–बोध, व्यक्ति–रूप अवयवी के रूप में उसे देखना–भाँपना–तोलना, यह हम में सहज है। उतना ही सहज जितना हमारा कहानी कहने का, नाटक, अभिनय करने की प्रवृत्ति, स्वभाव। हमारे कथा बोध में व्यक्ति सहज ही चरित्र के रूप में उभरते हैं। ऐसे चरित्र जो व्यक्ति–विशेष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होते हुए स्वभाव से देह–और–देही युगल होते हैं। प्रकट ही, हम सहज भाव से व्यक्तियों को देखते ही इस रूप में हैं। कहा जा सकता है कि कथा कल्पना होती है, उसके चरित्र वास्तव नहीं होते। पर इससे बात हमारे बोध में और गहरी, जड़–में–बसी ही दिखती है। हम जब किसी चरित्र की कल्पना करते हैं तो, साफ ही, अपने मनुष्य–बोध को ऊह्य रखते हैं, उसी बोध की धरती पर कल्पना खड़ी होती है, उसे आधार बनाती है। बल्कि इस कल्पना में एक अनिवार्यता भी झाँकती दीखती है। हम यहां तक कह सकते हैं कि देह–देही भाव के बिना मनुष्य–व्यक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यहां एक और बात यह भी देखिये कि 'चरित्र' अवयवी होता है, और चरित्र की कल्पना अगर व्यक्तिभाव के बोध में निष्ठित होती है तो निष्कर्ष प्रकट है। यह कि व्यक्ति का एक एकत्व, उसका अनन्य–भाव, देह और देही, इन दो तत्त्वों के अनिवार्य युगल–भाव में गुँथा होता है। अवयवी–बोध का युगल–ग्राहित्व यहां स्पष्ट झलकता है।

पर देही का प्राधान्य होता है, यह अभिनय में दिखता है। चरित्र अभिनीत हो सकते हैं। अभिनय में मनुष्य व्यक्ति का देह–देही भाव मानो एक मूर्त प्रतीक का रूप धारण कर लेता हुआ स्फुट होता है। अभिनेता स्वयं देह–देही होता है। पर अभिनय में देही की प्रधानता भी आगे आती है। देह, या तद्–देह कहिये, वह गौण रहती है, क्योंकि अभिनेता को बदला जा सकता है। यह ठीक है कि अभिनेता की देह को, उसकी चेष्टाओं को, उसकी देह के पूरे आवह को ही हम चरित्र विशेष के अनुकूल चाहते हैं, साधते हैं, पर यह देह, निदान को, देही की वाहन ही होती है। तभी अभिनेता, और यों देह, को बदला जा सकता है। चरित्र के रूपायण में यह बड़ी आम सी बात है। पर देही को बदल दें तो चरित्र (व्यक्ति) ही बदल जायेगा। यों चरित्र का देही (मनोविग्रह, या चित्तविग्रह) ही प्रधान होता है। अभिनय उसी अंतःविग्रह को रूप देने की कला है।

अभिनीत चरित्र अपने मर्म में मनोविग्रह के अंतःसूत्रों का एक विशेष गुंफ होता है। बात को व्यक्तिभाव पर उतारा जा सकता है, इस अंतर के साथ कि व्यक्ति की देह चरित्र की देह की तरह बदली नहीं जा सकती। व्यवहार में तद्–व्यक्ति–देह की विशिष्ट पहचान होती है जो कि मनोविग्रह के किसी रूप में विकृत हो जाने पर भी बनी रहती है। जीने–और–रहने के साधारण स्तर पर देह ही हमारे लिये एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से विविक्त करती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। औरों की क्या, हमारी अपनी पहचान भी देह के माध्यम से होती है। दर्पण में देह किसी और की दिखे तो हम अपने को भ्रांति या मोह में फंसा समझेंगे, बौखला जा सकते हैं। जीवों की तरह ही हम देह रूप में जन्म लेते हैं, और हमारी मृत्यु भी देह की मृत्यु होती है। पर मनुष्य व्यक्ति का व्यावर्तक लक्षण फिर भी मनोविग्रह को ही आधार बनाता है। हम देह से अलग भी व्यक्ति की कल्पना कर सकते हैं। विगत के मृत व्यक्ति से भी हमारा अंतः–साम्मुख्य होता है जिन्हें हमने कभी देखा नहीं, न देख सकते हैं। उनके वृत्तांत के माध्यम से, उनकी कृति के माध्यम से..., ऐसे साम्मुख्य में जो व्यक्ति हमारे बोध में उपस्थिति होता है, हम उसे देही के रूप में कल्पित करते हैं, देह उपेक्ष्य होती है, चाहे उसके होने का बोध नेपथ्य में कहीं जागता रहे। व्यक्ति की उपस्थिति यहां अशरीरी मनोविग्रह रूप ही होती है। मृत्यु के बाद व्यक्ति के बने रहने की कल्पना की जाती है। मनुष्य में ऐसी कल्पना की जड़ें गहरी हैं, उसके मनुष्यभाव में ही निमग्न लगती हैं। व्यक्ति को मनोविग्रह माने बिना इस कल्पना का अर्थ नहीं।

एक और बात देखिये। अवयवी को समझने का एक जाना–माना तरीका उसका अवयवों में विश्लेषण कहा जा सकता है। कह सकते हैं कि व्यक्ति का देह और देही में विभाजन समझने की यही दिशा लेना है। साफ ही अवयवी का अवयवों में विश्लेषण उसका छोटे से छोटे टुकड़ों में विभाजन नहीं होता। हम अवयवी में अवयव देखते (या भाँपते) हैं तो अवयवी का अवयव में विभाजन भी करना चाहते हैं। यह विभाजन (या विश्लेषण कहिये) एक अर्थमय प्रक्रिया होती है। कहा जा सकता है कि विश्लेषण मात्र (चाहे टुकड़ों में ही क्यों न हो) अवयवी को समझने की ही चेष्टा होती है। जगत् को परमाणु से बना देखना विश्लेषण की ऐसी ही धारणा में बसा है, और धारणा उतनी ही पुरानी है जितनी विश्लेषण की धारणा। पर यह प्रक्रिया फिर अवयवी को अणु–खंडों में देखती हुई अणु–खंडों को ही सर्वस्व मानने की दिशा भी ले ले सकती है, अवयवी फिर अणु–खंड का संघात मात्र रह जाता है, उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता बिसार दी जाती है। यह घड़े को मिट्टी के छोटे से छोटे दानों में बाँटने जैसा है, और उसे ही घड़े का सत्–स्वरूप कहना। पर हम विश्लेषण की एक और दिशा भी पाते हैं जहां अवयवी प्रधान होता है। विश्लेषण में अवयवी के संश्लिष्ट अवयवित्व को प्रधान और प्रतिष्ठ रखा जाता है। यो हम विभाजन–मात्र और अवयवी–की–ओर–उन्मुख

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सार्थक विश्लेषण (या वैयाकरणों की तरह 'व्याक्रिया' कहिये), इनमें भेद कर सकते हैं। ऐसा भेद करते हुए हम कह सकते हैं कि अवयवी की अवयवों में व्याक्रिया अवयव को अवयवी के सार्थक अंग के रूप में देखते हुए की जाती है। अवयवी के अखंड को ध्यान में रख कर की जाती है। इसमें ऐसे अंग उभरते हैं जिनमें अंगित्व के साथ अपने आप में भी अवयवित्व होता है। इसका एक अर्थ–गंभीर दृष्टांत भाषा में मिलता है। और यह दृष्टांत व्यक्तिभाव को समझने का भी एक सार्थक दृष्टांत हो सकता है। 'व्याक्रिया' शब्द हमने व्याकरण से लिया है। 'व्याकरण' का अर्थ ही 'व्याक्रिया करना है', भाषा का अर्थ को ध्यान में रखता विश्लेषण। एक प्रश्न आरंभ में ही आड़े आ सकता है। भाषा को हम क्या सचमुच अवयवी कह सकते हैं, पूर्णांग अवयवी? भाषा तो संपूर्ण होती ही नहीं, संभावनामयी बनी रहती है। हमारी चेतना में अर्थ को रूप देता एक विराट् निस्सीम आयाम। इस अर्थ में उसे मनुष्य–चेतना का (आत्मचेतना का) प्रतीक भी कह सकते हैं। पर उसे अवयवी तो नहीं कह सकते। यह ठीक है, पर वह अवयवियों की अनंत संभावना पालती है। हमारी अवयवी–बोध में बसी चेतना पर प्रसृत है भाषा। इसलिये वह कई तरह के अवयवियों की संभावना पालती है। साहित्य में, दर्शन में, विज्ञान में, अध्यात्म में...। पर हमारा साधारण दैनंदिन व्यवहार भी भाषा में ही होता है। साधारण आठपहरी व्यवहार में कविता, उपन्यास, सिद्धांत या उपनिषद्, गीता जैसे अवयवी नहीं बनते। वहां ऐसे किसी अवयवी की बात करना ही अतिचार जान पड़ सकता है (हालांकि साहित्य, दर्शन, विज्ञान को व्यवहार से नितांत विच्छिन्न भी नहीं किया जा सकता, ये हमारे व्यवहार का ही अंग हैं)। फिर भी दैनंदिन बोलचाल को भाषा–प्रयोग की आधार–भूमि या मूल आयाम के रूप में देखें (जैसा कि स्वाभाविक ही लगता है) तो भाषा का अवयवी वाक्य को कह सकते हैं। हालांकि सच पूछिये तो वाक्य भी किसी बृहत्तर वाक्य–समूह का अवयव ही होता है। पर तो भी वाक्य को भाषा का आधारगत अवयवी कहा जा सकता है, व्याक्रिया की सुकरता के लिये भी। तभी विश्लेषण–करते वैयाकरणों में वाक्य को अवयवी मानने का चलन पुराना है। वाक्य की व्याक्रिया शब्दों और शब्द–संबंधों में की गई है। ध्यान देने की बात यह है कि व्याक्रिया यहां अर्थ को ध्यान में रख कर की जाती है, इसके बिना की ही नहीं जा सकती, तभी वाक्य के अवयव शब्द होते हैं जो सार्थक हुए बिना शब्द ही न होंगे। यह बात तब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और भी सामने आती है जब शब्द की भी व्याक्रिया की जाये, जैसी कि पाणिनि ने की ही है। शब्द की व्याक्रिया जहां संभव होती है (अगर शब्द अखंड प्रातिपदिक न हो) वहां वह उपसर्ग, प्रत्यय आदि में बाँटा जा सकता है, धातु को शब्द की मूल नाभि मानते हुए। भाषा की यह सारी व्याक्रिया अर्थ–परक होती है, भाषा के अर्थमय स्वरूप को ध्यान में रखती है, वाक्य–रूपी अवयवी की अर्थमयता को अपने प्रयास के गर्भ में पालती चलती है। पर वाक्य और उसके शब्दों को अक्षरों, स्वर–व्यंजन वर्णों और उनकी शृंखला, में भी तोड़ा जा सकता है। ऐसा भी विभाजन किया गया है, और जिन्हें 'वर्ण मातृका' कहा गया है उन तक पहुँचाता है। इसका भी अपना प्रयोजन होता है, जैसे उच्चारण में, लिखने में और इनकी शिक्षा में। पर विभाजन यहां अर्थ की परवाह नहीं करता। वर्ण–मातृकायें उस सार्थक भाव से 'मातृका' (शब्द की जननी) नहीं होतीं जिस भाव से वाक्य के शब्द और शब्द के फिर धातु, प्रत्यय आदि होते हैं, जो अवयवी के अर्थ–स्वरूप को ध्यान में रखती व्याक्रिया से उभरते हैं। ऐसी व्याक्रिया की प्रक्रिया अवयवी के स्वरूप को अवयवों के एक संस्थान, एक संघात–योजना के रूप में प्रस्तुत करती है। कहना न होगा कि इस प्रक्रिया के गर्भ में यह बोध भी होता है अवयवी अवयव–संघात मात्र नहीं होता, संघात से परे उसकी अपनी सत्ता होती है, जो संघात में रहती हुई भी उसमें नहीं समाती, तत्–सार नहीं होती।

भाषा के विश्लेषण में जिसे विभाजन और व्याक्रिया का भेद कह सकते हैं, उनमें मर्म का अंतर यह है कि व्याक्रिया अर्थ को सामने रख कर चलती है, जबकि विभाजन के लिये अर्थ की सत्ता आगन्तुक सी हो सकती है। ऊपर के देह–देही भाव को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं विभाजन भाषा के शरीर का ही हो सकता है; उसके इन्द्रिय–गम्य रूप का। उच्चारित या लिखित शब्दों को हम अर्थ–शून्य टुकड़ों में तोड़ सकते हैं। पर भाषा के देही की, उसके अर्थ की, वैसी व्याक्रिया का अर्थ ही क्या होगा? भाषा में भी देह का काम देही की ओर संकेत करना ही है। अर्थ का भाषा में यहां तक गौरव है कि हम पाते हैं कि उसी अर्थ के लिये (लिखित, उच्चारित) शब्द दूसरे भी हो सकते हैं, भाषा ही दूसरी हो सकती है।

भाषा को देह–देही के दृष्टांत के रूप में देखें तो एक और तत्त्व की और ध्यान आकृष्ट होता है। अर्थ का प्रत्यक्–भाव या यों कहिये कि उसका विचार–करती प्रत्यक्–चेतना में स्थित होना। हम कहते हैं, 'चिड़िया'। किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को उच्चारण बताना हो तो चिड़िया शब्द विभाजन (उसके हिज्जे, उसके वर्ण–क्रम) की ओर ध्यान दिया जा सकता है (यहां पाणिनिवत् व्याक्रिया की बात अप्रांसंगिक ठहरती लगती है। ऐसे देसी शब्द की कोई संस्कृत की धातु–प्रत्यय–वत् या किसी और अर्थ–गर्भ पद्धति से व्याक्रिया शायद संभव नहीं)। पर 'चिड़िया', इस शब्द–रूपी अवयवी के अर्थ में खुलते आयाम किसी व्याक्रिया में न समा सकते हैं, न उससे ध्वनित हो सकते हैं। 'चिड़िया' का अर्थ किसी भी दृष्ट चिड़िया के लिये तो संकेत है ही, पर इसके अर्थ के और भी फैलते–हुए, भीतर मुड़ते हुए आयाम हैं जो कई दिशा ले सकते हैं . 'काश मैं चिड़िया होता' से लेकर 'आत्मा हंस है' तक। कहना न होगा कि 'चिड़िया' अर्थ की संभावनाओं का अंत नहीं। दिख जाता है कि हमारी आत्मचेतना ही शब्दमयी होती है और शब्दों–वाक्यों में गुँथी भाषा अंतश्चेतना के सब आयामों का लेखा रखती है, उन्हें अभिव्यक्त ही नहीं करती, उनके अवगाहन–अन्वेषण–उन्मेष का भी वाहन होती है।

भाषा को देह–देही का रूपक मान कर चलें तो एक और बात यहां लक्ष्य है; शब्द और अर्थ यहां स्वरूपेण युगनद्ध होते हैं, अविच्छेद्य (पार्वती–परमेश्वर की तरह)। ऐसा कुछ दिखे या सुने जिसका शब्द–वाक्य–वाक्यगुंफ के रूप में बोध हो तो हम उसे अर्थमय मान कर चलते हैं, चाहे अर्थ का बोध न हो; जैसा कि अनजानी भाषा के साथ या न–पढ़ी–गई लिपि के साथ होता है। इन्द्रिय–बोध यहां कलाकृति के बोध की तरह ही एक ऐसे अतीन्द्रिय अवयवी–बोध में बसा होता है जो इन्द्रिय–गम्य को इन्द्रिय–परे का संकेत मानता है। जैसे देह को देही का।

ऊपर के विमर्श से ध्वनित है कि व्यक्ति को समझने के लिये ध्यान मनोविग्रह पर केन्द्रित करना चाहिये। व्यक्ति का मनोविग्रह ही उसके व्यक्तिभाव का बीज होता है, जो आत्मचेतना के साथ ही अंकुर लेता है। उसकी समझ के लिये आत्मचेतना की भूमा को ध्यान में रखना चाहिये। तभी व्यक्तिभाव के कोशों की बात की जा सकती है– अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय। अंत के दोनों कोश मन से ऊपर रहते हैं पर मन को ही केन्द्र बनाते हैं, यों कोशों का क्रम–शृंखला बनती है, नीचे के दो देह–संबंधी कोश भी मनोविग्रह के बिना व्यक्ति–संपर्क ही खो देंगे। प्राणमय और अनन्मय का इंगित देह की ओर ही है। पर देह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का केन्द्र भी होती है, अन्न और प्राण इसीका धारण करते हैं। पर यहां मन से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देह का संश्लेष भी साफ है। मन के बिना (दोनों ही प्रकार की) इन्द्रियां काम ही नहीं कर सकतीं। ऊर्ध्व के कोशों में पहले का संबंध चेतना के प्रत्यक् भाव से है, जिसमें विचार, और विचार–चेतना में निहित अर्थ–लोक रूप लेते हैं। आनंदमय कोश को विचार से ऊर्ध्व–स्थित विशुद्ध विषयित्व का छोर कहा जा सकता है, जहां तक चेतना उस ओर बढ़ सके, मन से अधः–स्थित कोशों की तरह ये भी मन से संश्लिष्ट हैं। कोशों की यह कल्पना हमारे अनुभव पर आधारित है। हम मन में देह, वासना और विचार का एक साथ बोध करते हैं, इनमें अधः–ऊर्ध्व के सोपान को भी प्रतीत करते हैं। विचार ही नहीं विचार से परे आनंदमय कोश भी मन की पहुँच के भीतर ही होता, तभी हमारे लिये अध्यात्म–साधना सार्थक है। सारे कोश मनोविग्रह के ही अधः–ऊर्ध्व धरातल हैं, चाहे इनकी सोपान–रेखायें स्पष्ट न होती हों और इनकी अन्यथा भी कल्पना की जा सकती हो।

पर मनोविग्रह का विस्तार और भी प्रसृत देखा जा सकता है। समाज–संस्कृति–चेतना भी व्यक्तियों को ही माध्यम बनाती है, अन्यथा वह रूप नहीं ले पायेगी। समाजों के समाज के भीतर उभरते और अन्य समाजों से संबंध भी व्यक्तियों के माध्यम से होते हैं, हालांकि समाज–चेतना व्यक्ति–चेतना से स्वतन्त्र होती है, और यह इस बात से स्पष्ट है कि समाजों के परस्पर संबंध व्यक्तियों जैसे धर्म के (परार्थता के) आदर्श में निष्ठ नहीं होते– साम, दान, दण्ड, भेद के स्वार्थ–संबंधों में ही जड़ करते हैं (विस्तार के लिये देखिये मेरी पुस्तक धर्म–संकट)।

व्यक्तिभाव को समझने के लिये एक और केन्द्रगत तत्त्व लक्षणीय है। हम देख चुके हैं कि आत्मचेतना के साथ हमारा (मनुष्य का) अहं अस्मद्–भाव में उत्क्रांत होता है। व्यक्ति में घर करती चेतना अब अपने अहं से हट कर, उससे निवृत्त हो, उसका वीक्षण करने में स्वभावेन समर्थ होती है। ऊपर हमने कहा कि आत्मचेतना व्यक्ति की नहीं होती, उसमें रूप लेती है। इसी प्रसंग में हमने आत्मचेतना की सामान्यता की बात की थी। पर इसी चेतना के साथ व्यक्ति का अनन्य–सामान्य भाव भी जागता है जो उसे व्यक्ति–विशेष बनाता है। एक ओर पशु के व्यष्टिभाव से उठ कर जब मनुष्य में आत्मचेतन व्यक्तिभाव जागता है तो यह व्यक्ति को स्वरूपेण अन्य–सामान्य बनाता हुआ जागता है। भाषा में और श्रेयबोध में इसके लक्षण स्पष्ट हैं। पशु व्यष्टि भी जातिगत रूप से अन्य–सामान्य होता है। उसमें अहं भी होता है, जो उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनन्यता भी देता है, यह अहं भी देहावच्छिन्न होता है, और देह ही पशु को व्यष्टित्व देती है। पशु की जिजीविषा में, उसकी भूख में, रति में, क्रोध में, भय में, उसकी व्यष्टिगत अनन्यता हम स्पष्ट देख पाते हैं। पर यह अनन्यता उसे वह स्वातंत्र्य नहीं देती, उसे वह आत्म नहीं देती, जो आत्मचेतना के साथ व्यक्ति में उभरता है, उसे आत्मनियोजन में समर्थ बनाता है। व्यष्टिभाव से उठ कर आत्मचेतन व्यक्ति में संकल्प और विवेक घर करता है जो अहंभाव के भीतर जड़ करते द्वैत को आधार बनाता है। यह द्वैत वीक्ष्य–वीक्षक का द्वैत तो होता ही है, पर साथ ही नियोज्य–नियोजक का भी द्वैत होता है। यह मनुष्य में चेतना के नये उन्मेष, नई भूमा और साध्यता के साथ को मनुष्य को आत्मबोध के साथ श्रेयबोध देता हुआ उसे साध्य बना देता है और साधनोचित स्वातंत्र्य देता है।

व्यक्ति की आत्मचेतना में प्रत्यक् भाव की भूमा अस्मद् भाव को नाभि बनाती घर करती है। इसी के साथ मनुष्य के विषयी–भाव में अहं का द्वंद्व उभरता है। चित्त और चित्त का पसारा, मनोविग्रह उसीका अनुषंगी है। मनोविग्रह को ही हम अपने आत्म के रूप में पाते हैं। इसके साथ ही हमें अपनी वृत्तियां और प्रवृत्तियां गोचर होती हुई, साध्य होती दिखती हैं। अहं का द्वंद्व या द्वैधीभाव जिस आत्म को साध्य बना देता है, उसमें प्रवृत्तियों का भी एक गहरा द्वंद्व उभर आता है, जिसे प्राप्त और प्राप्तव्य का द्वंद्व कह सकते हैं। इसे आत्म और अनात्म के रूप में भी देखा–आँका गया है। पशु–स्वभाव–निहित सहज हिंसा, लालसा, गृध्नुता, स्वार्थ..., इनके विरोध में अब श्रेयबोध के साथ अहिंसा, निष्काम–भाव, त्याग, परार्थ... जैसी वृत्तियां जाग उठती हैं। प्रवृत्ति के भीतर ही एक विरोध उभर आता है जो आत्म–अनात्म, सिद्ध–साध्य इन दो छोरों के मेलन का फल होता है, और विचित्र रूप लेता है। पतंजलि पर भाष्य करते हुए व्यास ने इसके लिये चित्तनदी के रूपक का प्रयोग किया है, और कहा है कि यह नदी उभयमुखी होती है। यह श्रेय की ओर भी बहती है और अश्रेय की ओर भी (व्यास के शब्दों में यह कल्याणमुखी भी बहती है, और पापमुखी भी – चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च)। इस रूपक को बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि ऐसे गहरे परस्पर–प्रतीप भाव से बहते पानी में एक विलक्षण, जटिल प्रवाह बनता है जो नदी के प्रवाह–प्रसार को विचित्र धाराओं, भँवरों, स्थिर–शांत–अशांत खंडों में बाँट देता है। हम पाते ही हैं कि हमारी वृत्तियां स्वार्थ–निःस्वार्थ, काम–निष्काम, त्याग–परिग्रह... इनके सौ रूप लेते मिश्रण में बसती हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मचेतन व्यक्ति का बोध भी अन्य–सामान्य होता है पर चेतना के एक नये धरातल पर, भाषाबोध और श्रेयबोध के साथ। इस रूप में वह मनुष्यजाति का और इस माध्यम से किसी समाज का अंग या अवयव होता है, उसकी साध्यता भी इसी सामान्य साध्यता के भीतर बसती है, इसका अंग होती है। एक गहरे अर्थ में इस सामान्यता के द्वारा नेय भी होती है। संचालित होती है। पर दूसरी ओर व्यक्ति का अनन्य व्यक्तिभाव भी आत्मचेतना के साथ जागता है। उसका अस्मद्–भाव अन्य–सामान्य होता हुआ भी, विविक्त, अनन्य–सामान्य होता है। आत्मचेतना उसे अन्य–सामान्य करती हुई ही उसे अन्य–व्यावृत्त करती है। वह अपने को अन्यों में अन्यवत् पाता हुआ भी अनन्य पाता है। इस द्वैधीभाव के भीतर से उसकी साध्यता में अब उसका अपना, निजी, तद्–व्यक्ति–निष्ठ दायित्व उभर आता है।

तभी व्यक्ति बनता ही आत्मसाध्य संकल्प बोध के साथ है। संकल्प को व्यक्तिभाव का मूल लक्षण भी कह सकते हैं। पर संकल्प विवेक के साथ जागता है जो आत्मचेतना के श्रेयबोध का लक्षण है। तभी विवेक स्पष्ट ही सामान्यता की मांग करता है, व्यक्ति में होता हुआ भी निर्वैयक्तिक होता है। यह मनुष्यभाव का लक्षण है, और तभी हम पाते हैं कि समाज व्यक्ति से एक सामान्य–स्वीकृत संकल्प–निष्ठ विवेक की मांग करते हैं। संकल्प के साथ ही व्यक्ति में दायित्व–बोध जागता है, वह अपने किये का दायी हो जाता है, पश्चात्ताप और दंड का भागी होता है। दायित्व की भित्ति व्यक्ति के स्वतंत्र होने पर टिकी है, पर हमें अपने कर्म के लिये दायी बनाता जो स्वातंत्र्य है वह व्यक्ति के अपने स्वार्थ के, इच्छा–वासना के तंत्र से ऊपर उठ कर औचित्य की सामान्यता के निर्वैयक्तिक धरातल पर निःस्व हो पाने में सक्षम करता हुआ स्वातंत्र्य होता है। यहां स्व के भीतर ही हम आत्मचेतना के साथ अवतरित द्वैधीभाव की साफ झलक पाते हैं। इसे व्यष्टिगत 'स्व' और प्रत्यक्–चेतना की ओर मुड़ते 'निःस्व' का द्वंद्व भी कह सकते हैं। या मनोविग्रह के साथ आत्म में ही उभरते आत्म और अनात्म का द्वंद्व कहिये। इस द्वंद्व को पशुभाव से उत्क्रांत होती आत्मचेतना का द्वंद्व भी कह सकते हैं जिसे चेतना में ही घर करती पुरानी प्रवृत्ति और नये साध्य के बीच होते संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। व्यक्ति का दायित्व औचित्य के निर्वैयक्तिक सामान्य के प्रति होता है। तभी व्यक्ति का विवेक उसे सामाजिक बनाता है। उसे अपनेपन के साथ अन्य–सामान्यता देते हुए उसे अन्य के प्रति दायी बनाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्य के संकल्प–विवेक में जो सामान्यता होती है वही उसे स्वातंत्र्य के धरातल पर पशुभाव से उत्क्रांत श्रेयबोध देती है। पशु की क्रिया को कर्म का रूप देती है। व्यक्ति के श्रेयबोध की निर्वैयक्तिक सामान्यता का बीज समाज–संकृति की चेतना के स्तर पर वपित होता है, व्यक्ति में रूप लेता है। इसे संस्कार–शिक्षा के साथ व्यक्ति में रूप दिया भी जाता है, वैसे ही जैसे भाषा को। तभी हर समाज में व्यवहार–साध्यता की एक रीति बनती है जिस पर व्यक्ति स्वभाव से चलते पाये जाते हैं। पर यह रीति भी आत्मचेतन मनुष्यभाव में जागते श्रेयबोध की अनुषंगी होती है। पशुभिन्न होती है और प्रदत्त स्व–भाव से उठे हुए संकल्प की अपेक्षा रखती है। तभी समाज की प्रवृत्ति नियम–निष्ठ होती है, व्यक्ति से मांग होती है कि नियमों का पालन करे। ये नियम (भाषा की तरह ही) सब समाजों में एक नहीं होते, पर भाषा की तरह ही अन्य–सामान्यता में बसे होते हैं, व्यक्ति जहां अन्यों में एक अन्य होता है। तभी न्याय और दंड की बात अर्थ रखती है। पर नियम का पालन नियम तोड़ सकने की भी अपेक्षा रखता है। यों व्यक्ति के अपने स्वातंत्र्य की अपेक्षा रखता है। व्यक्ति नियमों को तोड़ते ही नहीं, नियमों के साथ धोखा ही नहीं करते, नियमों पर औचित्य के प्रश्न भी उठाते हैं, रीति को और नियमों को औचित्य की नई श्रेयमयी दिशा देने की ओर भी बढ़ते हैं। न्यायबोध श्रेयबोध का अनुषंगी होता है, और श्रेय का अर्थलोक सामान्यता में बसता हुआ चेतना के जिस प्रत्यक्–भाव में स्थित होता है, वह समाज–सीमित नहीं होता। तभी उचित क्या है, इस प्रश्न का और औचित्य की गहनतर अवगति का आयाम दूसरे अर्थलोकों की तरह उन्मेष के लिये खुला रहता है। ऐसे उन्मेष के प्रति व्यक्ति की ही नहीं, समाज की चेतना भी जागरूक रहती है। इसके उदाहरण इतिहास में बिखरे पड़े हैं, पर गांधीजी का अभी हाल का दृष्टांत स्पष्टतम है। पर दायित्वबोध उसे अपने प्रति भी दायित्व देती है, स्व के स्वार्थ–तंत्र से उठे उस प्रत्यक्–भाव के प्रति दायित्व जो उसे परतंत्र व्यष्टि से स्वतंत्र व्यक्ति बनाता है।

यह कहने में कि व्यक्ति 'संकल्प के साथ' होता है, एक तात्त्विक अभिप्राय भी विवक्षित है। साधारणतः हम व्यक्ति को पहले रखते हैं और 'व्यक्ति का संकल्प', इसकी बात करते हैं। इसमें संकेत यह निहित लगता है कि व्यक्ति मानो पूर्वरचित या प्रदत्त होता है, और संकल्प–बोध उस पूर्वस्थित में 'उसका संकल्प' हो कर जागता है, बल्कि यहां तक लग सकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि वही उसे अपने में जगाता है। आज के व्यक्तिवादी वातावरण में व्यक्ति को इस तरह स्वयंभू मानने का चलन भी आम सा है। पर ऐसा कहने का अर्थ क्या बनता है? व्यक्ति के संकल्प से पहले होने का अर्थ क्या होगा? व्यक्ति का होना अगर स्वतंत्र स्वनिर्मिति की अपेक्षा रखता है तो उसका होना संकल्प से पहले नहीं हो सकता, संकल्प के साथ युगनद्ध ही हो सकता है। व्यक्ति बनता ही संकल्प से है तो उससे पहले व्यक्ति को व्यक्ति मानने का अर्थ नहीं बनता। पशु में संकल्प नहीं होता। संकल्प आत्मचेतना की अपेक्षा रखता है, और आत्मचेतना व्यक्ति को व्यक्ति का रूप देती हुई व्यक्ति में होती है, व्यक्ति की नहीं होती– व्यक्ति आत्मचेतना का स्वामी नहीं होता (जैसा कि हम देख चुके हैं)।

व्यक्ति का समाज–संस्कृति से कई स्तरों पर संबंध होता है। श्रेय, औचित्य और समाजगत श्रेयनीति ही नहीं, साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, अध्यात्म... जैसे ज्ञान और भाव के अर्थलोकों का धारण भी समाज और समाज–निष्ठ व्यवहार करता है। तभी इन अर्थलोकों की परंपरायें बनती हैं, संस्थायें खड़ी होती हैं, शिक्षण और संस्कार की सामान्य धारायें रूप लेती हैं। ये अर्थलोक और इनके अवगाहित तत्त्व मनुष्य की प्रत्यक्–चेतना के साथ उन्मीलित होते हैं, मनुष्यभाव में रूप लेती आत्मचेतना के साथ इनके आयाम, इनके साध्य दिगंत उद्घाटित होते हैं। दूसरे शब्दों में, चित् के परम सामान्य सत् में स्थित होते हैं ये अर्थ और उनकी अगाध संभावनायें, तभी इन्हें उन्मेष–साध्य अर्थ कहा जा सकता है। पर इनके संभावनामय होने के कारण हम यह भी पाते हैं कि भिन्न समाजों–संस्कृतियों में भिन्न अर्थलोकों की ओर गरिमा का भाव कम या ज्यादा होता है। ये लोक जो रूप लेते हैं उनमें भी भिन्नता का अपना विशिष्ट वलय होता है। ये भेद सामान्यता के भीतर बनते विशेष होते हैं, और इनमें संवाद, आदान–प्रदान संभव होता है– अवगाहना की सामान्यता संभव होती है, चाहे संकल्प और प्रयास की मांग करती हो। पर समाज में घर करते हुए भी अर्थलोकों में उन्मेष का प्रस्फुटन और विकास व्यक्तियों में ही उन्मेष के साथ पनपता देखा जा सकता है, संस्कृति का विशेष व्यक्तिभाव में फलित होता है। दायित्व के अर्थ को किसी भी गहराई के साथ समझें तो कहना चाहिये कि दायित्व का दायरा कर्म तक सीमित नहीं है; अर्थलोकों का अवगाहन, उनकी साधना भी व्यक्ति का दाय है। हम पाते भी हैं कि अर्थलोकों में सृजन का मूर्धन्य प्रकाश व्यक्ति में ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घनीभूत होता है, उस प्रतिभा या प्रज्ञा की अपेक्षा रखता है जो व्यक्तियों में घर करती है। कलाकृतियों के सृजन में तो यह बात प्रकट सी है, उस ओर ध्यान भी सहज जाता है। कला की परंपरा का एक समाज–संस्कृतिगत रूप और भाव का प्रवाह होता है जो तत्–संस्कृति–निष्ठ होता है। पर यह सिद्ध नहीं, साध्य प्रवाह होता हैय इसका उन्मेष, नया स्फोट, नई क्रांति, ये व्यक्ति में ही रूप लेते हैं। व्यक्ति की अपनी विशेषता का वहन करते हैं। तद्–व्यक्ति के मनोविग्रह की छाया, उसका अपनापन, उसकी स्वगत भंगी उसे ऐसी विशेष अभिव्यक्ति देती है जिसे 'व्यक्ति की' कहते संकोच नहीं होता। पर कला में ही नहीं ज्ञान, कर्म के क्षेत्रों में भी यही होता है। विचार, और विचार का आत्मचेतनतम रूप दर्शन भी कला की तरह ही संस्कृति में जड़ करता हुआ व्यक्तियों में विशेष रूप लेता है। अध्यात्म, जिसे स्वरूपतः व्यक्ति के विषय–विषयी भाव से ऊर्ध्व, निरपेक्ष कूटस्थ समझा जाता है, उसकी अभिव्यक्तियों के व्यक्ति–भेद पर ध्यान दीजिये– याज्ञवल्क्य, कृष्ण, बुद्ध, चौतन्य, मीरा, रामकृष्ण, अरविन्द, रमण... एक भारत में ही इसके कितने अभिव्यक्ति–भेद देखने को मिल जाते हैं। अन्य–संस्कृतियों की भी अध्यात्म परंपरायें लें तो प्रसार को उतना ही विस्तृत पायेंगे जितना अर्थ–संधान के किसी भी क्षेत्र में। सूफी, ताओ, जेन, ईसाई... संस्कृति के भेद से अध्यात्म परंपराओं में भेद और परंपरा के भीतर व्यक्तिनिष्ठ उन्मेष का भेद, इसका वलय बढ़ता ही दीखता है। फिर इसमें नई साधना, नई उत्क्रांति की उतनी ही संभावनायें हैं, जितनी किसी भी अर्थ–संधान में (अरविन्द ने इसकी ओर इंगित किया ही है)। साथ ही संस्कृति की अनागत संभावनाओं को भी ध्यान में रखें तो वलय निर्बंध होता दिखता है। चित् की जिस यात्रा की ओर हमने ऊपर इंगित किया उस पर कहीं विराम लगाना संभव नहीं, और वह यात्रा ही संभावनामयी है। प्रश्न हो सकता है कि अध्यात्म का संबंध अगर विशुद्ध निर्विषयी–विषय चित् से है तो अध्यात्म के उपलब्धि–भेद या अनुभव–भेद और संस्कृति या व्यक्ति में रूप लेतीं उसकी अभिव्यक्तियों को किसी अर्थ में उपहित या अवच्छिन्न ही कहना चाहिये। निःस्सीम, निरपेक्ष का अनिवार्य ससीम प्रकाश। विचार की यह स्थापना सहज ही है, विशेषकर ऐसी अध्यात्म दृष्टियों में जो विषय–विषयी भाव को असत् और हेय मानती हैं। पर (हम इंगित कर चुके हैं कि) चित् को अन्यथा भी देखा समझा जा सकता है। हमारा अर्थ–संधान, चाहे अध्यात्म का ही हो, वह अगर सत्–उन्मुख होता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुआ सत्–प्रतिष्ठित है, तो विषय–विषयी भाव को मिथ्या अचित् कहना अर्थ नहीं रखता। अध्यात्म परंपरा की विचार–प्रज्ञा में चित् के आत्मसर्जन के साथ आत्मप्रकाश, आत्मप्रस्फुटन की भी बात की गई है। यह प्रकाश ही विषय–विषयी भाव का रूप लेता है, इसीमें आत्म और अनात्म का भेद उभरता है जो संधान का बीज है। यों अध्यात्म के सत् को मानते हुए भी उसे चित् के अपने प्रकाश के वैभव के रूप में भी देखा जा सकता है; इसके लिये विषय–विषयी भाव को असत् मानने की जरूरत नहीं, विषयी के प्रत्यक्–भाव की अगाधता में अध्यात्म और उसके अभिव्यक्ति–भेदों का अधिष्ठान देखा जा सकता है।

हमने मनोविग्रह के उदात्त पक्ष की चर्चा की। पर मनोविग्रह के साथ प्रवृत्ति की संभावना का जो स्वातंत्र्य जन्म लेता है उसकी व्यापकता उसके आरोह या उदात्त में ही नहीं, उसके अवरोह में भी देखी जा सकती है। श्रेय की कोटि अश्रेय की कोटि के साथ ही रूप लेती है। अश्रेय या अधर्म आसुरीभाव में भी रूप लेता दिखता है। पाप, अघ, निरय, ये श्रेय–विरोधी प्रवृत्ति की जिस दिशा की ओर संकेत करते हैं, वह मनोविग्रह के साथ ही उभरती है। यह पशु–प्रकृति की तरह श्रेय–अश्रेय का अभाव नहीं है, श्रेय की कोटि में ही ऊह्य, कोटि के साथ ही अविनाभूत, श्रेय का प्रतीप है, जिसके बिना श्रेय रूप लेता नहीं दिखता। हम पाते ही हैं कि श्रेय–बोध के साथ ही उतरती है श्रेय–विरोध की प्रवृत्ति। यह श्रेय का बाना पहन कर भी आती है, औचित्य की दुहाई देती है, अपनी सफाई देती है, अपने को न्याय्य–धर्म्य ठहराती है। यह ढिठाई के साथ भी आती है– जानामि धर्मं न च में प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। श्रेय–अश्रेय के इस द्वंद्व के लिये देवासुर संग्राम का पुराना रूपक सार्थक है।

साधारण व्यक्तिभाव में मनोविग्रहं यह आकाश–पाताल का अधः–ऊर्ध्व संभावना के रूप में ही रहता है। हम प्रवृत्त एक मध्य से स्तर पर रहते हैं, थोड़ा ऊँच–नीच लिये। आरोह की संभावनायें रूप ले सकती हैं, लेती कम हैं। नेपथ्य में ही रहती हैं। हम आत्मचेतन हैं, अपने वीक्षक भी हैं, पर हमें अपने चित्त का, उसकी प्रवृत्तियों का सतही सा बोध होता है। आकाश–पाताल ओझल ही रहते हैं। हमने मनुष्यभाव के साथ रूप लेती जिस विराट आत्मचेतना की बात की, वह हममें बहुत संकीर्ण–संकुचित रूप ही लेती है। आमतौर पर हममें वह स्वसंवेद का एक सीमित अति–अवच्छिन्न–सा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यवहार–रूप या व्यवहार–आत्म का बोध लिये जागती है, वह भी क्षणिक, तत्काल जागता सा बोध होता है, मनोविग्रह–व्यापी तो बिलकुल ही नहीं होता। हम अपने भीतर नित्य विचित्र रूप लेते रहती स्वप्न–चेतना को ही कितना देख–आँक पाते हैं! हां, हम एक संकल्प–बोध के साथ प्रवृत्त रहते हैं, पर स्वसंवेद की तरह हमारा संकल्प भी एक आठपहरी व्यवहार के घेर में बँधा रहता है, स्वार्थ, वासना, लोकैषणा, इन्हीं की ओर झुका रहता है। गतानुगतिक चलता है। उसका स्वातंत्र्य स्वसंवेद की तरह ही सीमित–संकुचित होता है। व्यक्तियों में आत्मचेतना के प्रत्यक्–भाव के धरातलों पर उभरते जिन भेदों के वैभव की हमने बात की वहां कम ही व्यक्ति पाये जाते हैं, हालांकि व्यक्तिभाव का सार्थकता, उसकी गरिमा, वहीं घर करती है।

पर व्यक्तिभाव और उसका विशेष, व्यक्तिमात्र का विशेष होना, उसका एक अन्य–विविक्त अपनापन, कितना ही घिरा–सीमित क्यों न हो, यह व्यक्ति मात्र में मनोविग्रह के साथ रूप लेता दिखता है। मनोविग्रह जीवभाव में एक स्वप्रतिष्ठ अंतःतत्त्व के साथ आता है जिसमें स्वभाव से ही विशेषत्व आहित होता है। हर मनोविग्रह की अपनी बुनावट होती है जो उसे एक चरित्र की तरह विशेष बनाती है। यह मनोविग्रह के अंतःतत्त्वों के सूत्रों का एक विशेष गुंफ होती है, हर व्यक्ति को अपना व्यक्तिभाव देती है। इस विशेष को मनोविग्रह–निष्ठ कहने का आशय यह है कि वह व्यक्ति के साथ ही रूप लेता है, या यों कहिये कि व्यक्ति को रूप देता है। आत्मचेतना के उदात्त–अनुदात्त, आत्म–अनात्म या प्रत्यक्–पराक् तत्त्वों को एक गुंफ में समेटता है, साध्यता की दिशा देता है। संकल्प इसीके साथ जागता है। साधारणतः वह प्रदत्त–सी दिशा में आत्मनियोजन करता चलता है, व्यवहार की प्रदत्त धारा को कुछ इधर–उधर करते हुए। उसकी साध्यता की साधारण दिशा इच्छां–कामना की होती है, या कहिये कि प्रेय–उन्मुख होती है और यह उन्मुखता बहुत कुछ अन्य–व्यक्ति–साधारण होती है। उस संस्कृति–निष्ठ व्यवहार में प्रवृत्त होती है जिसमें व्यक्ति व्यक्ति–रूप पाता है। इसे ही काम पुरुषार्थ कह सकते हैं, अपना और अपनों की सुख की चाह, भोगैषणा और लोकैषणा के विभिन्न रूप लेते देख सकते हैं। काम को पुरुषार्थ इसी अर्थ में कह सकते हैं कि वह ईषित होता है, काम्य होता है। पर मनुष्य में यह 'पुरुषार्थ' जागता धर्म के साथ है– काम मात्र से ऊपर उठ पाने के संकल्प, विवेक के साथ। साधारण व्यवहार के स्तर पर भी व्यक्ति में, स्वार्थ और प्रेय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के गझिन तानों के साथ श्रेय का झीना सा गुंफ गुँथा पाया जाता है। मनुष्यभाव का प्रेय श्रेय–बोध के बिना नहीं होता। व्यक्ति में स्व की स्वार्थ–साधना के प्रवाह के भीतर ही उसकी धारा चलती है, चाहे कितनी ही रूढ़ि और रीति की लीक से बँधी चलती हो।

मनोविग्रह की विशेष बुनावट जो व्यक्ति को अनन्य बनाती है और उसे एक 'चरित्र' का रूप देती है, इसे एक स्तर पर अवयवी विशेष कह सकते हैं। पर प्रवृत्ति और साध्यता में बसता हुआ यह कभी पूरा अवयवी नहीं होता। इसमें घर करती आत्मचेतना की संभावनायें भी संभावनायें ही बनी रहती हैं। साध्यता की इन स्वरूपेण प्राप्य पर अप्राप्त संभावनाओं के कारण मनोविग्रह का मृत्यु के साथ अंत न मानना मनुष्य–बोध में आम है। पर इस पर चर्चा यहां फलवती होती नहीं दिखती। इस साध्यता का जन्म–जन्मांतर में भिन्न अस्मत्–बोध के साथ व्यक्ति बनता देहनिष्ठ देही तो कोई नैरंतर्य पालता नहीं दिखता। इतना तो लगता है कि जिसे हम अस्मत्–भाव के स्वसंवेद और संकल्प के साथ जागते व्यक्तिगत 'स्व' के रूप में पाते हैं, नई देह में अवतरित होता भी हो तो व्यक्ति दूसरा ही होता है, चाहे किन्हीं किन्हीं में पुराने की स्मृति बच भी जाये। किसी साध्य का नैरंतर्य हम नहीं पाते। नैरंतर्य कोई बनता है तो निरस्मत्–निष्ठ मनोविग्रह का ही बनता है। व्यक्तियों में विशेष प्रतिभा, प्रवृत्ति की विशेष तीव्रता पाई जाती है तो लग सकता है कि किसी साध्य–संधान का नैरंतर्य जन्मांतर से चला आ रहा है। बुद्ध की जातक कथाओं के पीछे यही धारणा है। पर बुद्ध को पूर्वजन्मों की, साध्यता के एक लम्बे इतिहास की स्मृति थी भी तो वह ज्ञान–विशेष के साथ जागी होगी, जो ज्ञान बुद्धत्व के बिना फलित होता दिखता नहीं है। प्रवृत्ति और गुण–कौशल का विशेष व्यक्तियों में पाया ही जाता है, तभी किसी चली–आती यात्रा की कल्पना की जाती है। पर ऐसी कोई यात्रा है भी तो चित्त या मनोविग्रह की अस्मत्–भाव विहीन यात्रा ही बनती है। संकल्प–जात किये का फल भोगने के लिये भी ऐसी यात्रा की बात की जाती है। पर इसमें और भी समस्या है। भोग का व्यक्ति के देह–देही भाव से और इसमें निष्ठ अस्मत्–बोध से अविनाभाव का संबंध है। पर नये व्यक्ति में अस्मत् बोध ही नया हो तो फलभोग का क्या अर्थ बनता है?

मनोविग्रह के देह और अस्मत् भाव से स्वतंत्र होने की कल्पना की जा सकती है। पर फिर उसके तत्–भाव का ही क्या अर्थ होगा? उसका व्यक्ति से संबंध भी क्या होगा?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर व्यक्ति की साध्यता अगर उसे एक अद्‌भुत सा अवयवी बना देती है तो उसे स्वरूपेण असंपूर्ण भी बना देती है। साध्यता संपूर्णता की शत्रु है। मनुष्य व्यक्ति अगर स्वरूपेण साध्य है तो स्वरूपेण असंपूर्ण भी हैं। मनुष्य–व्यक्ति प्रवहमान काल में निर्मीयमाण स्वभाव रखता है। पर हमारा अवयवी–बोध अवयवी की संपूर्णता की भी मांग करता है। जो कुछ अभी बन ही रहा हो उसे अवयवी कैसे कहा जाये? और मनुष्य–व्यक्ति के बारे में तो यहां तक कह सकते हैं कि वह कभी बन कर पूरा होता ही नहीं। पुनर्जन्म की धारणा के पीछे असम्पूर्णता का यह बोध भी काम करता देखा जा सकता है। मनुष्य स्वभाव से कर्मशील है, अपने भीतर भी और अपने बाहर भी, और उसके कर्म और कर्मफल का कभी अवसान नहीं होता। मनुष्य की यह स्वभाव–से–ही–निरंतर कर्म–यात्रा उसके उसी विलक्षण भाव की उपज है जो मनुष्य की (और मनुष्य–व्यक्ति की) चेतना को जीव के विषय–बद्ध विषयी भाव से एकबारगी अलग कर देती है, उसे प्रत्यक्–भाव के साथ एक सहज श्रेयस्–बोध या औचित्य–बोध देती है, स्वातंत्र्य देती है। श्रेयबोध के साथ जागता यह स्वातन्त्र्य ही मनुष्य को दायित्वशील, कर्मशील कर्त्ता बनाता है। इसे मनुष्य की आत्मनिर्मिति का भी लक्षण कह सकते हैं, जिसके साथ ही चेतना में संकल्प और विवेक का आयाम रूप लेता है। पर यह कर्म–यात्रा कभी पूरी होती तो दिखती नहीं! हमारा कोई भी संधान कब पूरा होता है! और हर संधान एक स्वतंत्र कर्म ही होता है। अगर मोक्ष को ही सब संधानों का परम और उद्दिष्ट संधान मानें (जैसा कि अपने यहां की एक मूलगत विचार और साधन परंपरा में निष्ठ है) और यों कर्म और संधान की पूर्ति, और उसका अवसान, मोक्ष में मानें तो एक पैनी समस्या खड़ी दीखती है। मोक्ष में 'व्यक्ति', या 'मनुष्य' की बात ही नहीं की जा सकती, इनका भी अवसान हो जाता है, और फिर (जैसा हम देख आये हैं) संधान भी स्वरूपेण मिथ्या की कोटि में आ समाता है। मोक्ष को फिर उस संधान का 'फल' या 'परिणाम' नहीं कहा जा सकता। मुक्त व्यक्ति को न 'मनुष्य' कहा जा सकता है, न 'व्यक्ति', अगर कहा जा सके तो प्रश्न ही रह जायेगा कि वह मुक्त हुआ या नहीं? मुक्ति में मनुष्य व्यक्तिरूपेण "पूर्णता" जैसा कुछ पा लेता हो, यह मोक्ष–चिंतन से विसंगत ही लग सकता है। मनुष्य की साध्यता–संधान की यात्रा को फिर किसी अनचाही, मिथ्या दंड से मिली कारा से निकल भागने की चेष्टा के ही रूप में ही देखा जा सकता है। मोक्ष को 'भवचक्र से छुटकारा' कहने के पीछे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आशय भी यही है। संधान–यात्रा का अपना अर्थ, अपना सार्थक परिणाम या फल तभी बन सकता है अगर मुक्ति को हम किसी अभ्युदय के रूप में देखें, किसी चित्–गत उन्मेष या ऋद्धि के रूप में। कहना न होगा कि मनुष्य की और मनुष्य–व्यक्ति की पूर्णता के मोक्ष–भिन्न दूसरे आदर्श भी हैं ही। पर हमारा संधान हमारे साध्य का रूप का ही संधान होता है, जिस साध्य रूप को हम अपना सच्चा स्वरूप समझते हैं। मोक्ष–साधना के पीछे भी यही दृष्टि है। पर 'मनुष्य का स्वरूप क्या है' इसके दूसरे भी उत्तर हैं और हो सकते हैं। भिन्न संस्कृतियां इसके भिन्न उत्तर देती ही रही हैं। आदर्श–प्रेरणा (या प्रज्ञा कहिये) मनुष्य में स्वाभाविक है, अपने मर्म में मनुष्य के प्रत्यक्–चेतन स्वरूप से अंतरतः संबद्ध है, जहां आत्मचेतना में निहित आत्मद्वंद्व आत्म और नात्म का भी द्वंद्व होता है।

पर मनुष्य को और यों मनुष्य–व्यक्ति को हम स्वरूपेण साध्य मानें तो प्रश्न स्वाभाविक है– ऐसे बन रहे अवयवी को अवयवी कैसे कहा जाये, किस अर्थ में कहा जाये?

बात यहां अवयवी–बोध में कुछ और उतरने की है। इस बोध के लिये अवयवी की 'पूरी हो गई' सम्पूर्णता की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता एक संहत मर्म के बोध की, प्रवहमान में एकसूत्रत्व बोध की है। संधान में यहीं होता है। कहा जा सकता है कि संधान विचार में धारित होता है और विचार के रूप में सिद्धांत जैसे अवयवियों को जन्म देता है। पर यह संधान एक अगाध अवयवी–बोध में बसा तो दिखता है पर यह रहता संधान ही है, संधान के किसी मोड़ पर यह दावा करना (हालांकि ऐसा दावा किया जाता है) एक छलावा या आत्मवंचना ही होगी कि 'तत्त्व मिल गया है'। यों दिख ही जाता है कि यह संधान अवयवी–बोध में बसते हुए भी और अवयवी का संधान होते हुए भी अपने आप में अवयवी नहीं होता। यह बोध का एक असीम पालता है जिसे चेतना का अपना असीम कह सकते हैं। यहां तक कहा जा सकता कि हमारे लिये अवयवी का संधान ही सत्य है, अपने किसी अवयवी–स्वरूप का वस्तुज्ञान नहीं।

पर मनुष्य को ही क्यों, जगत् को ही लीजिये, जिसमें मनुष्य रहता है। जगत् कभी घड़े की तरह निर्मित और नियत अवयवी नहीं हो पाता और तभी संधान के लिये भी इसका रूप खुला रूप रहता है, 'बन चुका' रूप नहीं। अवयवी–बोध ही यहां अपने को अपरिसीम अनंत में खुला पाता है, अपने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भीतर अपने से परे का क्षितिज पालता चलता है। किसी अर्थ में हम जगत् को अवयवी के रूप में पूरा प्रस्तुत मान भी लें तो भी उसके अंग–प्रत्यंग की खोज तो किसी भी पूर्णता के परे ही जागती दिखती है, और वह कब अपने विषय के बारे में चौंक कर अनजान अज्ञेयत्व की उलझन में फँस जाये, कहा नहीं जा सकता।

जगत् को हम जैसे अवयवी के रूप में देखते हैं, वैसा ही संकेत हम अपने व्यक्ति–बोध में भी देख पाते हैं। मनुष्य–व्यक्ति भी जगत् की तरह 'खुला' अवयवी होता है। उसकी देह तो चिड़िया की तरह पूरी पूरी सामने दिखती है, देह का जनमना, मरना भी सामने रहता है, देह में जन्म से मृत्यु तक बदलाव भी आता है, पर तद्–देह का बोध अखंडित रहता है। पर उसका देही, उसका अंतःस्वरूप, देह जैसा अवयवी नहीं होता। उसमें अवयवित्व की नाभि होती है, उसकी संभावना का आधार होता है, पर वह बना–बनाया अवयवी नहीं होता, न हो पाता है, उसमें अवयवित्व की तलाश रहती है। व्यक्ति–रूप मनुष्य अवयवी काल–में–बनता–हुआ अपर्यवसित अवयवी होता है।

काल–में–बनते–हुए अवयवी के हमें दूसरे भी अनुभव होते हैं। रागदबारी को, आलाप के द्वारा राग को रूप दिये जाने के अनुभव को लीजिये। किसी भी राग की (या संगीत–रचना की) प्रस्तुति को हम अवयवी–बोध के साथ ही सुनते हैं (चाहे राग या रचना पहली ही बार प्रस्तुत की जा रहा हो)। नहीं तो उसमें संगीत का बोध ही नहीं होगा। पर वह रचना एकबारगी सामने नहीं आती, उसका अवयवित्व काल में खुला होता है। यह खुलापन राग–संगीत में और भी स्फुट होता है। व्यक्ति के लिये दृष्टांत ढूँढना हो तो यही उपयुक्त उदाहरण भी है। राग अपनी प्रस्तुति में भी पूर्व–निर्धारित नहीं होता, नई–कल्पनाओं–से–बुने आलाप के साथ गाया या बजाया जाता है। पर राग हो या कोई नियत रचना, संगीत का अवयवी अपने समग्र में एकबारगी आगे नहीं आता (जैसे चित्र आगे आ सकता है)। वह काल में रूप लेता है, इसलिये उसके रूप में स्वभाव से ही अनागत और विगत का समावेश रहता है। पर उसमें हमारी अवयवित्व की अपेक्षा उतनी ही गहरी होती है जितनी किसी भी कलाकृति में। यही कारण है कि किसी प्रस्तुति को सुनते हुए सुरों की किसी बढ़त या सुर–लय की किसी गति या व्यूह के बारे हमें यह बोध हो सकता है कि यह 'पूरे से मेल नहीं खाता', विषम, विच्छिन्न, विसंगत है। पूरा सामने न हो तब भी हममें यह भाव जाग सकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। यही बोध किसी उपन्यास या सिद्धांत–ग्रंथ या किसी बात को ही सुनने या पढ़ने में भी हो सकता है। अवयवी यहां एक स्फोट के रूप में रहता है, ऐसे अवयवी को ध्यान में रखते हुए ही स्फोट–सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। काल–में–बुना–जाता भाषाकृत अवयवी तत्काल प्रस्तुत नहीं होता, वह संगीत जैसा होता है, देश–में–बुने चित्र की तरह नहीं। पर स्फोट का ग्रहण अवयवी–बोध को प्रकट ही ऊह्य रखता है, चाहे भाषा हो या संगीत या मनुष्य व्यक्ति। स्फोट का सिद्धांत भाषा तक सीमित हो, पर उसकी व्यापकता स्पष्ट है। अवयवी बोध के कारण ही राग को या किसी बात को सुनते–पढ़ते हुए हममें अवयवी–भंग का बोध उठ खड़ा हो सकता है। पर यह बोध सरल सा नहीं होता, बहुसूत्री होता है, बदल भी सकता है, क्योंकि संभव है कि हमारा अवयवी–बोध ही अवयवी के मर्म को न पकड़ पाया हो। संगीत की या विचार की नई सार्थक सृष्टियों के साथ ऐसा होता ही है, जहां अवयवी–बोध में विसंगत–लगते तत्त्वों को समेटता एक नया उन्मेष जागता है। यहां दोष हमारी पकड़ का होता है, और यह दोष या न्यूनता हमारे अवयवी–बोध (और उसके स्तरों) को पूर्वगृहीत रखती है। अवयवी–बोध के बिना ऐसे दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य व्यक्ति के बारे में भी हमें ऐसा बोध होता है। हम पाते ही हैं, कहते ही हैं, 'उसने जो किया, उस जैसा नहीं था'। यह सही है कि इस बोध में भ्रांति हो सकती है। हमें दिख सकता है कि हमारा अवयवी–बोध अधूरा था या स्वरूप–ग्राही नहीं था। पर यह और बात है, भ्रांति तो सत्य के साथ जुड़ी रहती ही है। और अवयवी के स्वभाव को पकड़ पाने में भ्रांत दृष्टि तो किसी भी अवयवी–बोध में हो सकती है, चाहे वह अवयवी पूर्व–रचित रचना की तरह नियत–पर्यवसित हो या खुली–संभावना–रखता अनियत–अपर्यवसित अवयवी हो, जैसे राग–संगीत या मनुष्य। पर राग और मनुष्य व्यक्ति में यह पते का भेद है कि मनुष्य व्यक्ति का अवसान राग–प्रस्तुति की तरह एक पूरेपन का बोध लिये नहीं होता। मनुष्य–व्यक्ति की मृत्यु संगीत की तरह सम–आप्त नहीं होती। व्यक्ति के मृत्यु–पर्यवसित होने पर, चाहे वह कितना ही जिये, यह बोध नहीं होता कि व्यक्ति कलाकृति की तरह पूरा हुआ, हालांकि यह कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने को रचता चलता है।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर,
अजमेर रोड, जयपुर-302006

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विट्गेन्टस्टाइन की अद्वैत-दृष्टि

रवीन्द्र के. एस. चौधरी

"विट्गेन्स्टाइन का दर्शन और अद्वैत वेदांत ! दोनों में भला क्या मेल? और कैसी तुलना?" यह एक ऐसी प्रत्याशित प्रतिक्रिया है जिसे दोनों दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की किसी भी कोशिश के खिलाफ बड़े आराम से जारी की जा सकती है। वास्तव में कोई भी तुलनात्मक अध्ययन तभी रोचक एवं व्यवहार्य होता है जब संबंधित पक्षों के बीच कतिपय आधारभूत समानताएँ हों। इस बात से हमें भी कोई एतराज नहीं है। दो बिल्कुल बेमेल चीजों के बीच सार्थक तुलना सचमुच अचिंत्य है। यदि हम उनकी तुलना करें भी तो वह अद्वैत वेदांत की शब्दावली में दो विरूद्धधर्मी पदार्थों का परस्पर आरोप होने अध्यास जैसी स्थिति होगी। परंतु क्या विट्गेन्स्टाइन का दर्शन और अद्वैत वेदांत परस्पर इतने धुर विरोधी हैं? आम धारणा तो यही रही है कि ये दोनों दर्शन इतने असमान हैं कि उनके बीच सफल एवं सार्थक तुलना की कोई संभावना ही नहीं बनती। इस बहुप्रचलित धारणा के विरूद्ध हमारी मूल प्रस्थापना यह है कि अनेक विभिन्नताओं के बावजूद विट्गेन्स्टाइन के दर्शन और अद्वैत वेदांत में कई समानताएँ हैं। और, ये समानताएँ महज सतही नहीं, बल्कि बुनियादी तथा महत्त्वपूर्ण हैं। ये इतने अर्थान्वित हैं कि उनके आधार पर एक समन्वित दृष्टि उभर सकती है। यहाँ हम इसी मंतव्य को यथासंभव स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।[1]

बेशक कुछ ऐसी स्पष्ट चुनौतियाँ हैं जिनके चलते आम तौर पर विट्गेन्स्टाइन के दर्शन और अद्वैत वेदांत का तुलनात्मक अध्ययन व्यवहार्य नहीं माना जाता। यहाँ हम सबसे पहले उन संभावित चुनौतियों से पार पाने का प्रयास करेंगे। फिर दार्शनिक चिन्तन, चाहे वह पूर्वी हो या पश्चिमी, सामान्यतया कुछ बड़े प्रश्नों और बुनियादी विषयों से संबंद्ध रहा है। सत् का प्रश्न एक ऐसी ही केन्द्रीय समस्या है जिसके इर्द–गिर्द दोनों दर्शनों के मध्य समानताओं को उजागर करने का प्रयास समीचीन होगा। प्रस्तुत आलेख की सीमाओं के मद्देनजर यह उचित भी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

I

अपने वर्तमान विवेच्य–विषय के समक्ष संभावित चुनौतियों का अंदाजा लगाना हमारे लिए कठिन नहीं है। साधारणतया ऐसी चार प्रकार की व्यापक चुनौतियाँ हमारे मार्ग में प्रस्तुत हो सकती हैं।[2]

(क)

हमारी पहली चुनौती वही है जिसकी सामान्य रुप से चर्चा शुरुआत में की गयी है। विट्गेन्स्टाइन के दर्शन और अद्वैत वेदांत के बीच असमानताएँ इतनी अधिक हैं कि वे तुलना की किसी भी कोशिश पर भारी पड़ती प्रतीत होती हैं। दोनों दर्शनों को यदि उनके दैशिक–कालिक संदर्भों में देखा जाए तो वे परस्पर बहुत दूर नजर आते हैं। विट्गेन्स्टाइन का समस्त चिन्तन समकालीन पश्चिमी दर्शन का हिस्सा है। उसे स्पष्टतया एक ही व्यक्ति ने प्रवर्तित किया है। दूसरी ओर अद्वैत वेदान्त भारतीय दर्शन की एक चिन्तनधारा है। वेदोपनिषद् से लेकर अबतक इसकी लंबी और अटूट परंपरा मिलती है। यहाँ कोई प्रणेता नहीं, अपितु परंपरा ही प्रधान है। दोनों दर्शनों के प्रस्थान, उपागम, परिप्रेक्ष्य, संप्रत्यय–विधान आदि में भारी भिन्नता परिलक्षित होती है।

फिर तुलनात्मक अध्ययन में तो साम्य और वैषम्य दोनों का प्रतिपादन अपेक्षित है। यह बात सही है और इस पर कहा जा सकता है कि दोनों दर्शनों के बीच की असमानताएँ प्रायः सुविदित हैं, परंतु इनकी समानताएँ हमारी नजरों से ओझल या उपेक्षित रही हैं। जानी–पहचानी असमानताओं और असहमतियों की पुनरावृत्ति से कोई बात निकलकर सामने नहीं आ सकती। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि असमानताएँ नकारात्मक होती हैं जबकि समानताएँ सकारात्मक। इसलिए समानताएँ सकारात्मक सोच के संवर्द्धन में सहायक हैं। वैचारिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि समानताओं पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाए, ताकि दो महान दर्शनों के बीच सृजनात्मक संवाद और तुलना का मार्ग प्रशस्त हो सके।

ध्यातव्य है कि दार्शनिक चिन्तन स्वभावतः समग्रतामूलक होता है, क्योंकि उसका सरोकार समूचे जीवन और जगत् से है। अतः दार्शनिक चिन्तन के कोई भी दो रुप इतने अहलदा नहीं हो सकते कि उनके बीच संवाद और तुलना की कोई गुंजाईश ही न हो। विचारों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दार्शनिकों ने जाने–अनजाने किस तरह दूर–दूर के विचार–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सूत्र के संदर्भ में या उनकी तुलना में अपने मत का विकास किया। विट्गेन्स्टाइन के दर्शन और अद्वैत वेदांत की तुलना से हमारे वैचारिक क्षितिज का विस्तार ही होगा। फिर मौजूदा भूमंडलीकरण के दौर में कोई भी संवेदनशील व्यक्ति अपनी ही वैचारिक परंपरा में सीमित नहीं रह सकता। चिन्तन की इतर परंपराओं और पद्धतियों पर विचारना आज के युग में वैचारिक समृद्धि का परिचायक है।

(ख)

विट्गेन्स्टाइन के प्रारंभिक और उत्तरकालीन चिन्तन परस्पर इतने भिन्न हैं कि उन्हें अक्सर दो प्रकार के दर्शनों के रुप में देखा–परखा जाता है। *ट्रैक्टेट्स लॉजिको फिलासॉफिकस* और *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* ये दो ग्रंथ क्रमशः विट्गेन्स्टाइन के पूर्वकालीन और उत्तरकालीन चिन्तन की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। *इन्वेस्टिगेशंस* में वे अपने ही पुराने विचारों को 'गंभीर भूलें'[3] मानकर उनके खंडन में आमादा दीखते हैं। अतः हमारे लिए एक नयी समस्या पैदा हो जाती है। जब विट्गेन्स्टाइन स्वयं स्थिरमत नहीं हैं तो उनके किन विचारों के आधार पर हम अपने तुलनात्मक विवेचन को आगे बढ़ाएँ ?

पुनः विट्गेन्स्टाइन का उत्तरकालीन चिन्तन मुख्यतया बहुविध 'जीवन के रूपों' में निबद्ध 'भाषा–खेलों' से संबंधित है। उनके अनुसार 'भाषा खेल' पद तो इस तथ्य की प्रमुखता दर्शाने के लिए है कि भाषा बोलना एक क्रिया–कलाप है, या फिर जीवन–पद्धति का भाग है। उनके मत में भाषा–खेल उतना ही हमारे प्राकृतिक इतिहास का अंग है जितना कि चलना, खाना–पीना, खेलना।[4] इसका मतलब है कि भाषा–खेल का संदर्भ हमारा लोक–व्यवहार है; किसी उच्चतर पारमार्थिक सत्ता से उसका कोई वास्ता नहीं है। इतना ही नहीं, पूर्वकालीन विट्गेन्स्टाइन को भी तर्कीय प्रत्यक्षवाद का सूत्रधार समझा गया। तदनुरूप *ट्रैक्टेट्स* की लंबे समय तक तत्त्वमीमांसा–विरोधी व्याख्या की गयी।

इसके उलट अद्वैतवादी दर्शन मूलतः तात्त्विक चिन्तन है। अद्वैत वेदांत का मुख्य सरोकार तत्त्व–साक्षात्कार से है। अतः प्रश्न उठता है कि तत्त्वमीमांसा के प्रति दृष्टिकोण को लेकर विट्गेन्स्टाइन और अद्वैतवेदान्त के मतभेद को कैसे सुलझाया जाए? यदि विट्गेन्स्टाइन सचमुच तत्त्वमीमांसा के घोर विरोधी हैं तो फिर उनके दर्शन में अद्वैत–दृष्टि कैसे मिल सकती? इसके समाधान का रास्ता एक महत्त्वपूर्ण विभेद के माध्यम से खुलता है। यह विभेद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विट्गेन्स्टाइन ने अपने चिन्तन के प्रारम्भिक चरण में किया है और जो उनके परवर्ती चिन्तन में भी खंडित नहीं होता। ट्रेक्टेट्स में उन्होंने कथन *(सेइंग)* और प्रदर्शन *(शोइंग)* के मध्य विभेद किया है। उनके अनुसार "जो प्रदर्शित हो सकता है कथित नहीं हो सकता।"[5] *टैक्टेट्स* को समझने में तर्कीय प्रत्यक्षवादियों से जो शुरूआती चूक हुई उसका भी मूल यहीं छुपा है। तर्कीय प्रत्यक्षवाद की योजना के अनुसार जो कुछ कहा जा सकता है उसके अंतर्गत वह सब कुछ खप जाता है जो जीवन में वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है। परंतु विट्गेन्स्टाइन का विश्वास तो अनुभवातिक्रामी था। उनके अनुसार मानव जीवन में वास्तव में जो कुछ महत्त्वपूर्ण है उसके विषय में हमें मौन रहना चाहिए।[6]

यह मौन गूंगे का मौन नहीं है, अपितु यह तो अभिव्यक्ति की सीमाओं को लेकर उत्पन्न होती है। यह अभावात्मक मौन नहीं, बल्कि सकारात्मक मौन है। मौन की महत्ता के मामले में विट्गेन्स्टाइन का दृष्टिकोण भारतीय मानस के लिए चिरपरिचित है।[7] इस मौन का मूलाधार परमार्थ में समाया हुआ है। विट्गेन्स्टाइन बतलाते हैं, "निस्संदेह अनिर्वचनीय होता है। यह स्वयं को प्रदर्शित करता है, यह रहस्यमय है।" इस तरह जो प्रदर्शित हो सकता है किन्तु कथित नहीं हो सकता वह वास्तव में 'स्वयं प्रकाशवान परंतु अनिर्वचनीय' है।[8] यह अद्वैत वेदांत की मूल दृष्टि नहीं तो और क्या है?

कथन और प्रदर्शन के भेद का विस्तार विट्गेन्स्टाइन के उत्तरकालीन दर्शन में भी लक्षित किया जा सकता है। ड्ररी के अनुसार विट्गेन्स्टाइन के समस्त परवर्ती चिन्तन में यह मौलिक विचार विद्यमान रहा है।[9] वास्तव में यह विभेद उनके प्रारंभिक और परवर्ती विचारों के बीच सातत्य का प्रतिनिधित्व करता है। उनके उत्तरकालीन विचार की एक बानगी देखिए : "कई बार दार्शनिक विचार की आवाज इतनी मंद होती है कि बोले गए शब्दों का शोरगुल उन्हें अभिभूत करने के लिए पर्याप्त होता है।"[10] पीटर विंच का यह मत उचित ही है कि यहाँ विट्गेन्स्टाइन उसी प्रकार के विचार का संकेत कर रहे हैं जिससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि दर्शन में महत्त्वपूर्ण चीजों का कथन नहीं किया जा सकता, परंतु उन्हें अवश्य दर्शाया जाना चाहिए।[11]

(ग)

तीसरी चुनौती दर्शनशास्त्र के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान के प्रचलित प्रतिमान का परिणाम है। हमारी विश्वविद्यालयी शिक्षा और शोध में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विचारों को प्रायः किसी–न–किसी संप्रदाय से जोड़कर देखा जाता है। दर्शनशास्त्र के अध्ययन में किसी नवागंतुक के लिए यह मार्ग सुकर हो सकता है। परंतु इससे दार्शनिक विचारों के मर्म को समझना दूभर हो जाता है। उससे आगे बढ़कर बने–बनाए ढर्रों और ढाँचों के बाहर जाकर भिन्न–भिन्न विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करना और भी कठिन होता है।

अद्वैत वेदांत को आधुनिक युग में अक्सर पश्चिमी निरपेक्ष प्रत्ययवाद के एक भारतीय प्रतिरूप के तौर पर देखा गया है। दूसरी ओर विट्गेन्स्टाइन को महज एक भाषायी दार्शनिक माना जाता है जिनका कि तात्त्विक चिन्तन से कोई लेना–देना नहीं है। और, निरपेक्ष प्रत्ययवाद से तो उनका स्वभाविक विरोध भी है। ऐसी दशा में शंकर जैसे अद्वैतवादी का हेगेल, ब्रैडले आदि के विचारों से तुलना करना अपेक्षाकृत आसान है। परंतु विट्गेन्स्टाइन जैसे विश्लेषणवादी दार्शनिक से शांकरमत की तुलना करना दुष्कर और अव्यवहार्य प्रतीत होता है।

यह समस्या अद्वैत–दर्शन की समूची शिक्षा के अति सरलीकरण का परिणाम है। हेगेलीय निरपेक्षवाद के विपरीत, अद्वैत–दर्शन वास्तव में कोई परिकल्पनात्मक दर्शन नहीं है। यह विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के बीच का एक संप्रदाय भर भी नहीं है। दार्शनिक चिन्तन के जो विभिन्न संप्रदाय देखने को मिलते हैं वे तो हमारी व्यावहारिक बुद्धि की कोटियों द्वारा प्रस्तुत वैचारिक योजनाएँ हैं। अद्वैत–दृष्टि तो समस्त वाद–विवाद व तर्क–वितर्क का पारगामी है। पश्चिमी अर्थों में तत्त्वमीमांसीय तंत्र–निर्माण अद्वैत वेदांत का प्राथमिक उद्देश्य भी नहीं है। तत्त्वबोध तो यहाँ साधना–स्वरूप है। यह मानव की आध्यात्मिक अभीप्सा पर आधारित एक भरा–पूरा जीवन–दर्शन है। विट्गेन्स्टाइन का जीवन–चिन्तन भी नैतिक एवं आध्यात्मिक शुद्धि की गाथा है। उन्होंने भी उच्चतर जीवन मूल्यों की केन्द्रीय महत्ता स्वीकारी है। वास्तव में वे 'दार्शनिक कम और गुरू अधिक'[12] थे। वे अपने शिष्यों को सिखलाते थे कि दार्शनिक समस्याएँ सच्ची आवश्यकता से उत्पन्न होनी चाहिए, न कि वाग्विदग्धता और चतुराई की चाहत से।[13]

अद्वैतवादी दृष्टि हेगेल के निरपेक्षतावाद के बजाय कांट के परमार्थवाद के समीप है। विट्गेन्स्टाइन भी प्रायः अपरोक्ष रूप से कांटीय दर्शन के प्रभाव में रहे हैं। अपने पूर्वकालीन दर्शन में शोपेनहॉवर के माध्यम से उनपर कांट का गहरा प्रभाव पड़ा। एक तरह से उन्होंने कांटीय समस्या को ही भाषायी मोड़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिया है। उनके अनेक व्याख्याकारों ने उनके परवर्त्ती चिंतन पर भी कांटीय प्रभाव को रेखांकित किया है।[14] इस तरह उनकी समूची विचार–यात्रा में कांट और शोपेनहॉवर की परंपरा से प्रेरित एक अंतर्धारा प्रवाहित रही है। सत्ता के सीमित जागतिक रूपों से परे पारमार्थिक सत् की ओर सतत संकेत इस परंपरा की सामान्य विशिष्टता है। अद्वैत वेदांत में निरूपित व्यावहारिक और पारमार्थिक के विभेद की तरह कांट के दर्शन में 'फेनोमेना' और 'न्यूमेना' के बीच अंतर किया गया है। इसे शोपेनहॉवर ने कांट का महान देन माना है। परंतु कांट के समय से ही जर्मनी के बौद्धिकों ने भारतीय दर्शन में गहरी रूचि लेना शुरू कर दिया था। खुद कांट अपने समय के यात्रा–वृतान्तों के जरिए भारतीय चिन्तनधारा से परिचित था।[15] शोपेनहॉवर का उपनिषद् के प्रति आदरभाव और अगाध प्रेम विश्व प्रसिद्ध है। पूर्ववर्ती विट्गेन्स्टाइन ने अपने विचारों पर शोपेनहॉवर के प्रभावों को खुलकर स्वीकारा है।

तब क्या विट्गेन्स्टाइन पर कहीं–न–कहीं अद्वैत वेदांत का अपरोक्ष प्रभाव स्वीकार किया जाए? इस प्रश्न पर हम कदाचित् कुछ कहने की स्थिति में हैं। इस बात की संभावना क्षीणप्राय है कि विट्गेन्स्टाइन ने अद्वैत वेदान्त के किसी ग्रंथ को पलटकर भी देखा होगा। परंतु उपर्युक्त इतिवृत्त के आधार पर अपरोक्ष वैचारिक प्रभाव का एक ऐसा प्रारूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है जिसे हम नजरअंदाज नहीं कर सकते। भले ही उसके विभिन्न आयामों पर अब तक अपर्याप्त अनुसंधान के चलते हम बहरहाल कोई निष्कर्ष प्रस्तुत न कर सकें।

(घ)

अपने उद्भव और विकास की दृष्टि से हरेक दर्शन किसी विशेष ऐतिहासिक–सांस्कृतिक परिस्थिति की विशिष्ट उपज होती है। तद्नुरूप उसका एक मूल–पाठ और संदर्भ *(टेक्स्ट एंड कॉन्टेक्स्ट)* होता है। इसलिए दार्शनिक विचारों को जब हम उसकी मौलिक परंपरा से अलगाकर किसी अन्य वैचारिक योजना में व्याख्यायित करते हैं या किसी विदेशी भाषा में अनुदित करतें हैं तो स्वाभाविक रूप से उसका मूल तात्पर्य कहीं खो जाता है। इस बात में पर्याप्त सच्चाई है।

अतः हमारी चौथी चुनौती व्याख्यापरक (इंटरप्रिटेशनल) है जो कि दर्शन विशेष के मूल–पाठ और परंपरा के बाहर जाकर उसे व्याख्यायित करने की कोशिशों से पैदा होती है। परंतु जब हम किसी इतर परंपरा के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शन से उसकी तुलना करने का प्रयास करते हैं तो कमोवेश ऐसा करना अपरिहार्य हो जाता है। इस तरह समस्या यह है कि जब अद्वैत वेदांत और विट्गेन्स्टाइन के दर्शन दोनों के अपने–अपने विशिष्ट संदर्भ हैं और वे परस्पर इतने भिन्न हैं तो फिर विट्गेन्स्टाइन के दर्शन में अद्वैत–दृष्टि की खोज का क्या औचित्य है?

सच पूछा जाय तो अब तक के अधिकतर तुलनात्मक अध्ययन विदेशी भाषाओं में अनुवाद के आधार पर ही संपन्न हुए हैं। इस प्रक्रिया में पश्चिम की वैचारिक योजना हमारी पूरी सोच पर हावी रही है। औपनिवेशिक प्रभुत्व के लंबे इतिहास के कारण यह प्रवृत्ति अब भी जारी है। अनुवाद वास्तव में कोई तटस्थ क्रिया नहीं है। फिर अनुवाद उच्चस्तरीय दोहरी विद्वता की माँग करती है जो कि प्रायः दुर्लभ होती है। कदाचित् इन्हीं जटिलताओं के चलते विटगेन्स्टाइन ने भाषा–खेलों की अनेकता को जो पुनरवलोकन *इन्वेस्टिगेशंस* के अनुच्छेद 23 में प्रस्तुत किया है उसके अंतर्गत 'एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना' भी शामिल है।

इन सबके बावजूद अंतर–संदर्भात्मक समझ न केवल संभव है, बल्कि वांछनीय भी है। लेकिन उसके संवर्द्धन के लिए कतिपय पूर्वापेक्षाएँ हैं। सर्वप्रथम जहाँ तक संभव हो सके हमें अपने पूर्वाग्रहों से यथासंभव मुक्त होना पड़ेगा। फिर हमें संबंधित मूल–पाठ को विस्तृत क्षितिज पर ले जाना होगा। हमारे लिए विचारों, वस्तुओं, घटनाओं आदि की तुलना करना अत्यंत स्वाभाविक है। यह तो हमारे दिन–प्रतिदिन के जीवन का अंग है। तुलनात्मक दर्शन न केवल दर्शनों की तुलना है, अपितु यह तो अपने–आपमें जीवन–दर्शन है। विट्गेन्स्टाइन ने भी एक जगह सिखा है कि उन्हें तो नये किस्म की तुलनाओं की तलाश है।[16]

II

सत् क्या है? यह एक ऐसा आधारभूत प्रश्न है जिसने आदिकाल से ही विवेकशील मानव को उद्वेलित किया है? लेकिन इस पर कभी निर्णायक उत्तर पर नहीं पहुँचा जा सका। वस्तुतः यह संभव भी नहीं है। कारण कि सबकुछ सत् के अंतर्गत समाया हुआ है; या उस पर आधृत है। उससे भिन्न या स्वतंत्र यदि कुछ हो तो उसे 'असत्' ही कहा जाएगा। सर्वव्यापी और सर्वाधार होने के चलते सत् का न तो कोई जाति गुण हो सकता है और न ही विभेदक गुण। अतः सत् का वर्णन या परिभाषा भी तर्कतः संभव नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फिर भी यह प्रश्न हमारा पीछा नहीं छोड़ता कि कुछ भी नहीं होने के बजाय आखिर क्यों कुछ है? हाइडेगर ने इसे मूलभूत तत्त्वमीमांसीय प्रश्न माना है, परंतु इसका उन्होंने कोई भी उत्तर प्रस्तावित नहीं किया है। इस बारे में विट्गेन्स्टाइन का मत विचारणीय है : "बेशक, मैं कल्पना कर सकता हूँ कि सत्ता और चिन्ता से हाइडेगर का क्या तात्पर्य है। मानव भाषा की सीमाओं के खिलाफ जाने का सतत आंतरिक आवेग अनुभूत करता है। उदाहरणार्थ, इस अचरज पर सोंचिए कि आखिर कुछ भी अस्तित्ववान क्यों है?"[17]

(क)

इसका मर्म तत्त्वमीमांसा के प्रति विट्गेन्स्टाइन की अभिवृत्ति में मिलता है। चलताऊ तौर पर तो उनके चिन्तन के पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही चरण के विचारों में से तत्त्वमीमांसा के विरूद्ध कई संदर्भ उद्धृत किए जाते हैं। लेकिन वास्तव में तत्त्वमीमांसीय विषयों को उन्होंने खंडन–मंडन से परे परंतु महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में ये विषय ही मानव जीवन को अर्थपूर्ण बनाते हैं। सत् के प्रश्न का वितान जीवन के नैतिक एवं सौंदर्यपरक पक्षों तक विस्तृत है। विट्गेन्स्टाइन के चिन्तन की गति मूलतः सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम् के ऐक्य की ओर है।[18] इसलिए उनके अनुसार जो लोग गहन चिन्तन–मनन के बाद जीवन के अर्थ को जान जाते हैं वे अपनी इस अनुभूति को अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाते हैं।

तार्किक प्रत्यक्षवादियों के विपरीत विट्गेन्स्टाइन ने कभी भी तत्त्वमीमांसा का निराकरण नहीं किया। हालांकि उनके चिंतन में तत्त्वमीमांसा–विरोधी कुछ औजार विकसित हुए, परंतु उन्होंने खुद तत्त्वमीमांसीय चिन्तन के खिलाफ युद्ध नहीं छेड़ा। न ही उन्होंने अपने पहले के तत्त्वमीमांसीय लेखनों की खिल्ली उड़ाई। इसके बजाय उन्होंने उन कृतियों को 'मानव मन की महान रचना' मानकर बड़े आदरभाव से ग्रहण किया।[19] इस मामले में उनका दृष्टिकोण कांट के समकक्ष रहा है। ए. जे. एयर ने भी आगे चलकर स्वीकारा है कि विट्गेन्स्टाइन की अभिवृत्ति कांट के कहीं अधिक करीब थी, जिनकी तत्त्वमीमांसा की आलोचना का अभिप्राय आस्था के पक्ष में ज्ञान के क्षेत्र को सीमित करना था।[20] पी.एम.एस. हैकर के अनुसार, जिस तरह कांट ने आस्था के लिए जगह बनाने के खातिर ज्ञान की सीमा का निर्धारण किया उसी तरह विट्गेन्स्टाइन ने अकथनीय तत्त्वमीमांसा को स्थान देने हेतु भाषा का सीमांकन किया। अकथनीय तो कहा नहीं जा सकता, परंतु वह भाषा के रूपों में प्रदर्शित हो जाता है।[21]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ख)

ट्रैक्टेट्स के आरंभ और अंत में जो दृष्टि–भेद परिलक्षित होता है वह भी हमारे लिए विचारणीय है। पुस्तक का प्रारंभ तो तथ्यता के विवेचन से होता है, परंतु उसकी परिणति परमार्थ के प्रकाशन में होती है। उसकी प्रारंभिक प्रतिज्ञप्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि विट्गेन्स्टाइन वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कट्टर समर्थक हैं : "जगत् वह सबकुछ है जो वस्तुस्थिति है। जगत् तथ्यों की समग्रता है, वस्तुओं की नहीं। जगत् तथ्यों द्वारा निर्धारित है– अर्थात् समस्त तथ्यों द्वारा।"[22] *ट्रैक्टेट्स* के मध्य में वे तथ्यात्मक जगत् के सीमित क्षेत्र में अर्थ के चित्रण–सिद्धांत का निरूपण करते हैं। किन्तु इस सिद्धान्त की अपनी सीमाएँ हैं। यह स्वयं को स्पष्ट नहीं कर सकता। उन उच्चतर मूल्यों और आदर्शों को भी तर्कतः चित्रित नहीं किया जा सकता जो हमारे जीवन को अर्थवान बनाते हैं।

इसलिए *ट्रैक्टेट्स* के अंत तक आते–आते विट्गेन्स्टाइन किसी ऋषि की तरह द्रष्टा भाव में अवस्थित हो जाते हैं। अब उनका संदेश है : "निस्संदेह अनिर्वचनीय होता है। यह स्वयं को प्रदर्शित करता हैं, यह रहस्यमय है।" इस रहस्य को अनुभूत करने के लिए स्वयं *ट्रैक्टेट्स* के उन वाक्यों को पीछे छोड़ देना आवश्यक हो जाता है जिनके सहारे यहाँ तक पहुँचा गया। विट्गेन्स्टाइन के शब्दों में, "जो मेरी बात पूर्णतः समझता है वह उन्हें अर्थहीन रूप में जानता है .... (अथवा कहें, सीढ़ी से ऊपर चढ़ चुकने के बाद वह अवश्य उसे फेंक दे।).... वह अवश्य उन वाक्यों को लांघ जाए। तभी वह जगत् का सही स्वरूप देखता है।" अतः एक सच्चे साधक की भाँति उनका अंतिम उद्‌गार हैः "जहाँ मनुष्य बोल नहीं सकता वहाँ वह अवश्य ही मौन रखे।" *ट्रैक्टेट्स* के ये तीन संदर्भ[23] एक ऐसी दृष्टि उजागर करते हैं जो देश–काल, सभ्यता–संस्कृति की सीमा नहीं जानती। यह अद्वैत–दृष्टि है और विट्गेन्स्टाइन के दर्शन में उसका होना कतई अस्वभाविक नहीं है।

अद्वैत–दृष्टि में ब्रह्म अनिर्वचनीय परंतु स्वयं प्रकाशवान है। विट्गेन्स्टाइन का रहस्यमय भी अनिर्वचनीय है जो स्वयं को प्रदर्शित करता है। दोनों तक पहुँचने के क्रम में भाषा की भूमिका मात्र साधन रूप में है। साध्य की सिद्धि होने पर उसकी अर्थहीनता उजागर हो जाती है। जिसे विट्गेन्स्टाइन 'अर्थहीन' कहता है वह अद्वैत वेदांत के 'मिथ्यात्व' से तुलनीय है। ट्रैक्टेट्स का 'अर्थहीन' न तो सत्य है और न ही असत्य, फिर भी वह 'महत्त्वपूर्ण' है; क्योंकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह एक सोपान की तरह द्रष्टा को इस स्तर पर प्रतिष्ठित करता है जहाँ से संसार को सही–सही देखा जा सकता है।[24] ज्ञानोदय के पश्चात् समस्त शास्त्र निरे उपदेश के रूप मे बाधित हो जाते हैं। ये वास्तव में निम्नकोटि के ज्ञान (अपरा विद्या) का प्रतिनिधित्व करते हैं। अंततोगत्वा 'रहस्यमय' के समक्ष मौन के अलावा कोई मार्ग नहीं बचता।

(ग)

उपनिषद् काल से ही अद्वैत परंपरा में सत् की गवेषणा सामान्यतया दो तरह से की गयी है। एक तो अंतर्मुखी होकर आंतरिक छानबीन से चैतन्यस्वरूप आत्म–तत्त्व की अनुभूति होती है। दूसरे बहिर्मुखी होकर वस्तुनिष्ठ ढंग से बाह्य जगत् के मूलाधार के रूप में ब्रह्म की अवगति होती है। फिर और भी गहन–चिन्तन–मनन से दोनों पद्धतियाँ परस्पर पूरक सिद्ध होती हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि वास्तव में बाह्य–तत्त्व का आंतरिक तत्त्व से अभेद है। इसलिए "सर्वोच्च ज्ञान, शंकर के अनुसार, यथार्थता की अपने प्रति साक्षी हैं, और वह इस तथ्य के द्वारा संभव हो सका है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही परमार्थ रूप से एक हैं और यथार्थ हैं।[25]

विट्गेन्स्टाइन ने अपनी पूर्वकालीन चिन्तन में इसी तरह की परस्पर पूरक पद्धतियों का अपने तरीके से उपयोग किया है। इनके आधार पर जीवन और जगत् के प्रति जो दृष्टि उनके चिन्तन में उभरती है वह मूलतः अद्वैतवादी है। उनके अनुसार "जगत् और जीवन एक हैं। मैं अपना जगत् हूँ। (एक लघुरूप ब्रह्माण्ड)।[26] विट्गेन्स्टाइन की ऐसी दृष्टि उपनिषद् के प्रसिद्ध प्रशंसक शोपेन–हॉवर की रचना *वर्ल्ड एज. विल एंड आइडियाज़* से प्रभावित है। वे जिस तरीके से इस दृष्टि पर पहुँचते हैं वह भी यहाँ विचारणीय है।

यदि जगत् तथ्यों की समग्रता है, जैसा कि पूर्ववर्ती विट्गेन्स्टाइन मानते हैं, तो तुरंत एक प्रश्न उठता है। इस समग्रता के उद्घाटन का आधार आधार 'क्या है? दूसरे शब्दों में, ज्ञाता जगत् से कैसे संबंधित है? *ट्रैक्टेट्स* को यदि संपूर्णता में देखा जाए तो वह पारमार्थिक दृष्टि की रचना ठहरती है। यह एक शुद्ध द्रष्टा की दृष्टि है जिसके सम्मुख मानों सारा जगत् दृश्य रूप में प्रस्तुत है। परंतु वह खुद इस तथ्यात्मक जगत् से परे है। जगत् के संदर्भ में उस द्रष्टा की स्थिति 'आँख और दृष्टि क्षेत्र के समरूप' है। जिस तरह आँख अपने दृष्टि क्षेत्र में सबकुछ देखती है परंतु स्वयं को नहीं, उसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तरह ज्ञाता जगत् का कोई अंग नहीं वरन् उसकी सीमा है।[27] इस संदर्भ में उपनिषदों की यह गवेषणा विचारणीय है कि "विज्ञातारमकेण विजानीयात्" अर्थात् अज्ञात ज्ञाता सब कुछ के ज्ञेय होने का पूर्वशर्त है।

यह स्थिति हमें एक विशेष प्रकार के 'अहंमात्रवाद' की ओर ले जाती है जिसका स्वरूप, विट्गेन्स्टाइन के मत में,'विशिष्ट प्रकार के यथार्थवाद की तरह ही है।' अहं वहाँ मानों 'एक विस्तारहीन बिन्दु' के रूप में सिकुड़ जाता है जिसके साथ 'यथार्थ सह–क्रमबद्ध' रहता है। इसलिए विट्गेन्स्टाइन के अनुसार "वस्तुतः एक ऐसा अर्थ है जिसमें दर्शनशास्त्र के अंतर्गत एक अ–मनोवैज्ञानिक अहं की चर्चा की जा सकती है। दर्शनशास्त्र में अहं इससे उपस्थित होता है कि जगत् मेरा जगत् है।"[28] अहंमात्रवाद दार्शनिक दृष्टि से भले ही एक विषम वैचारिक स्थिति का आभास देता हो, परंतु उसमें सच्चाई का अहम अंश मौजूद है। विट्गेन्स्टाइन के शब्दों में, "वस्तुतः अहंमात्रवाद का जो अर्थ है, वह बिल्कुल सही है, केवल उसे कहा नहीं जा सकता; वरन् वह स्वयं को प्रदर्शित करता है।"[29]

अद्वैत वेदांत में आत्मा के जिस रूप को 'साक्षी' कहा गया है, प्रायः उसे विट्गेन्स्टाइन ने 'दार्शनिक या मनौवैज्ञानिक अहं' अथवा तत्त्वमीमांसीय आत्म कहा है। दोनों ही शुद्ध द्रष्टा स्वरूप हैं जो कभी भी विषय रूप में पकड़ में नहीं आ सकते। विट्गेन्स्टाइन के अनुसार "अहम् कोई विषय नहीं है। मैं वस्तुनिष्ठ रूप से हरेक विषय का सामना करता हूँ, परंतु अहम् का नहीं।"[30] इसके मूल कारण का संकेत करते हुए अद्वैत परंपरा में कहा गया है कि उसे कैसे जाना जाए जिसके आधार पर सबकुछ जाना जाता हैं? जो समस्त प्रमाणों का पूर्वगामी है उसे भला किस प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है।[31] इस विचार–सूत्र को शोपेनहॉवर ने ग्रहण किया है। चूँकि विट्गेन्स्टाइन इस संदर्भ में शोपेनहॉवर से गहरे प्रभावित हैं, इसलिए अद्वैत परंपरा से उनकी ऐसी समानता होना स्वाभाविक है।

यहाँ पुनः प्रश्न उठाया जा सकता है कि विट्गेन्स्टाइन के 'दार्शनिक अहं' का वास्तविक स्वरूप क्या है? वास्तव में आत्म–तत्त्व का भावात्मक वर्णन संभव नहीं है; क्योंकि वह तो तथ्यात्मक जगत् का सदस्य नहीं है। औपनिषदीय आत्म की तरह विट्गेन्स्टाइन का दार्शनिक अहं गुणातीत है।[32] अतः इस संबंध में वे 'नेति–नेति' जैसी पद्धति अपनाते हुए दीखते हैं। उनका कहना है, "दार्शनिक अहं कोई मानवीय सत्ता नहीं है, न ही वह मानवीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शरीर या मनोवैज्ञानिक गुणों से युक्त मानवीय आत्म है।"[33] जिस तरह अद्वैत परंपरा में 'जीव' और 'आत्म' के बीच व्यवहारिक दृष्टि से विभेद किया गया है, बहुत–कुछ उसी तरह विट्गेन्स्टाइन भी मनोदैहिक संगठन–युक्त 'आनुभविक अहं' और 'तत्त्वमीमांसीय अहं' के बीच अंतर करते हैं। आगे, उनके अनुसार जिस किसी को भी इसकी अनुभूति होती है वह अपने शरीर या मानवीय शरीर के हक में कोई दलील नहीं देगा। वह तो मनुष्यों और पशुंओं को बड़ी सहजता से एक समान स्तर पर समरूप पायेगा। इसलिए विट्गेन्स्टाइन एक जगह सर्प, सिंह और स्वयं में एक ही चैतन्य तत्त्व का संचार स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, वे सजीव और निर्जीव की तात्त्विक एकता में भी विश्वास करते हैं।[34]

अतएव विट्गेन्स्टाइन अंततः 'केवल एक विश्वात्मा' *(ओनली वन वर्ल्डसोल)* की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में मनोवैज्ञानिक अहं से भिन्न एक उच्चतर या तात्त्विक आत्म है जो कि संपूर्ण जगत् से एकरूप है। वे लिखते हैं, "केवल अपने जीवन की अद्वितीयता की चेतना से ही धर्म, विज्ञान और कला का उद्‌भव होता है। यह चेतना ही स्वयं जीवन है।" चैतन्य तत्त्व का यह पारमार्थिक ऐक्य ही अद्वैत–दृष्टि का उत्स है। विट्गेन्स्टाइन का 'दार्शनिक अहं' उस असीम की ओर उठी हुई उंगली है। वे कहते हैं, "यह *मैं* ही हूँ जो कि गहन रूप से रहस्यमय है।"[35]

(घ)

यदि हम विषयपक्ष की ओर से यथार्थता की व्याख्या करते हैं तो एक विश्व–दृष्टि *(वेल्टनश्युआंग)* उभरती है। ट्रेक्टेट्स की शब्दावली में जगत् 'एक सीमित समग्र' के रूप में 'प्रदर्शित' होता है। जगत् का यह रूप वास्तव में नित्यता के अंतर्गत एक पक्ष *(सब स्पेसिएटनी)* है। अतः विट्गेन्स्टाइन के अनुसार "एक सीमित समग्र के रूप में *(सब स्पेसी एटर्निटाटिस)* जगत् की अनुभूति रहस्यमय है।"[36]

साधारणतया *ट्रैक्टेट्स* में विट्गेन्स्टाइन जब यथार्थता की चर्चा करते हैं तो उनका सरोकार उसके तार्किक आकार एवं संरचना से होता है। उनके अनुसार जगत् तथ्यों की संपूर्णता (टोटेलिटी) है। सरलतम तथ्य अणुतथ्य हैं जो कि पदार्थों के संघात हैं। भाषा यथार्थता का चित्र है। विट्गेन्स्टाइन के अनुसार दोनों में एकैकसमाकारी संबंध है और उनका तार्किक स्वरूप समान है। इसलिए भाषा में जगत् का चित्रंण संभव होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेकिन इससे केवल यही पता चलता है कि जगत् 'कैसा' है; इससे जगत् के तथ्यों की व्याख्या नहीं।

एक स्थल पर विट्गेन्स्टाइन बतलाते हैं कि, "आनुभविक यथार्थता पदार्थों की समग्रता द्वारा सीमित है। मूलवाक्यों की समग्रता में यह सीमा पुनः प्रकट होती है।"[37] यहाँ 'यथार्थता' को 'आनुभविक' द्वारा विशेषीकृत किया जाना विचारणीय है। ऐसा करके विट्गेन्स्टाइन यह दर्शाना चाहते हैं कि जगत् के तथ्यात्मक विवरण और उसके भाषायी निरूपण का सारा उपक्रम केवल व्यवहारिक दृष्टि से किया गया है। इस तरह वे पारमार्थिक सत् की ओर संकेत भी करते हैं। वास्तव में एक समग्रता के रूप में जगत् का अस्तित्ववान होना अपने–आपमें रहस्यमय है। विट्गेन्स्टाइन के शब्दों में, "यह रहस्यमय नहीं कि जगत् *कैसा* हैं, वरन् यह *कि* वह है।[38]

विट्गेन्स्टाइन की यह विश्व–दृष्टि भगवद्गीता के विश्वरूप–परमात्मा की याद दिलाता है। जैसा कि वे लिखते हैं "ईश्वरत्व *(गॉडहेड)* के दो रूप हैं : विश्व और मेरी स्वतंत्र अस्मिता।"[39] ईश्वरत्व की विश्वरूपता का भान तब होता है जब जगत् को एक सीमित समग्र के रूप मे देखा जाता है। अतः विश्व और ईश्वर के पारस्परिक संबंध को लेकर विट्गेन्स्टाइन की स्थिति सैमेटिक धर्म–परंपरा से काफी जुदा है। उनके कई व्याख्याकारों ने अब यह साफ कर दिया है कि विट्गेन्स्टाइन ने ऐसी सर्वेश्वरवादी विश्वदृष्टि शोपेनहॉवर के जरिए स्पिनोजा के दर्शन से पायी है।[40]

लेकिन विटगेन्स्टाइन क्यों ऐसी अद्वैतपरक विश्व–दृष्टि का वरण करते हैं जो कि रहस्यमय है? दरअसल वे आधुनिक मानव की वैज्ञानिक दृष्टि से संतुष्ट नहीं थे। वैज्ञानिक दृष्टि को 'भ्रम' करार देते हैं। उनके अनुसार "जगत्–संबंधी समग्र आधुनिक दृष्टिकोण की जड़ में यह भ्रम है कि प्रकृति के तथाकथित नियम दृश्य जगत् *(फेनोमेना)* की व्याख्याएँ है।"[41] आधुनिक मानस में यह धारणा बद्धमूल–सी हो गयी है कि विज्ञान हमारी सारी समस्याओं का अचूक समाधान है। विट्गेन्स्टाइन की दृष्टि में यह धारणा भ्रामक है। परंतु आखिर क्यों तथ्यता के तहत विश्व की व्याख्या नहीं हो पाती? विट्गेन्स्टाइन का उत्तर है : "देश और काल में स्थित जीवन की पहेली का समाधान देश और काल से परे है। (ये प्राकृतिक विज्ञान की समस्याएँ नहीं जिनका समाधान हो सके)।[42]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

III

समापन में सत् के प्रश्न और संबंधित मुद्दों पर उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन का दृष्टिकोण भी विचारणीय है। एक सुविचारित मत तो यह है कि 'विट्गेन्स्टाइन की परवर्ती रचना तत्त्वमीमांसा–विरोधी नहीं, हालांकि वह अ–तत्त्वमीमांसीय है।'[43] अर्थात् तत्त्वमीमांसा के प्रति विट्गेन्स्टाइन की अभिवृत्ति अब तटस्थ है। परंपरा से तत्त्वमीमांसा का मूल मंतव्य रहा है कि चीजें वास्तव में वैसी नहीं हैं जैसी कि वे प्रतीत होती है; उनके पीछे कुछ और ही सारभूत तत्त्व है। परंतु परवर्त्ती विट्गेन्स्टाइन के अनुसार, "दर्शन हमारे सामने सबकुछ रख भर देता है, और वह न तो कोई व्याख्या करता है न ही कोई निगमन।– चूँकि सबकुछ हमारी नजरों के सामने बेपर्दा होता है इसलिए व्याख्या की कोई गुंजाईश नहीं बचती। वजह कि जो छुपा हुआ है उसमें हमारी कोई रूचि नहीं है।"[44]

अतः सत् के किसी 'सिद्धांत' में उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन की सीधी दिलचस्पी नहीं दिखती। उनके अनुसार पारंपरिक तत्त्वमीमांसक सत् के सारभूत स्वरूप की खोज में खोये रहे। उनकी महत्त्वाकांक्षी प्रोजेक्ट ही गुमराह करनेवाली थी। वास्तव में सत् की कोई चर्चा संप्रत्ययात्मक संजाल में ही सार्थक हो सकती है। यह हमारी प्रतिरूपण–प्रणाली के 'व्याकरण' का क्षेत्र है जो मूलतः भाषायी परंपरा पर निर्भर करता है। 'विट्गेन्स्टाइन के अनुसार, 'सार व्याकरण के द्वारा व्यक्त होता है' और 'व्याकरण किसी सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं है।'[45] व्याकरण पूर्णतया स्वायत्त होता है।

विट्गेन्स्टाइन ने अपने उत्तरकालीन चिन्तन में भाषा को मानव जाति के प्राकृतिक इतिहास के अंग के रूप में देखा है। अतः उनके कई भाष्यकारों ने भाषा की व्यावहारवादी एवं मानवशास्त्री व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। चूँकि उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन के दार्शनिक अन्वेषण का घोषित संदर्भ भाषायी है। इसलिए उनके चिन्तन का क्षेत्र व्यवहार तक सीमित माना जाता है। परमार्थ भाषा की पहुँच से परे है। विट्गेन्स्टाइन ने आत्म, ईश्वर, जगत् की समग्रता आदि का न तो खंडन किया है न मंडन। ऐसी तत्त्वमीमांसीय समस्याओं की चर्चा करने से उन्होंने परहेज किया है। उनका ध्यान अधिकतर भाषायी भ्रम एवं व्यामिश्र से जनित दार्शनिक समस्याओं पर केन्द्रित रहा है। इन सब के बावजूद विट्गेन्स्टाइन का उत्तरकालीन चिन्तन पारमार्थिक संकेतों से रहित नहीं है। यहाँ हम उन संकेतों में से कुछेक पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(क)

विट्गेन्स्टाइन के उत्तरकालीन रचना का कोई भी संजीदा अध्येता सहज ही महसूस कर सकता है कि 'दार्शनिक समस्या' के स्वरूप एवं स्त्रोत को लेकर उनके चिन्तन में भीतरी तनाव है। विट्गेन्स्टाइन एक ओर तो कहते हैं कि बोतल में फंसी मक्खी की तरह दिग्भ्रमित होना दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति है उनकी समस्याओं का स्वरूप मूलतः भाषायी है। अतः भाषायी प्रतिरूपण के विभिन्न आकारों के विश्लेषण की एक कारगर पद्धति प्रायः उनकी समस्याओं का निदान कर सकती है।[46] दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि दार्शनिक समस्याओं में 'गहनता का गुण' होता है। ये 'गहरी व्याकुलता' हैं जिनकी जड़ें हमारे भीतर बहुत गहराई तक जाती हैं और वे हमारी 'भाषा के समान ही महत्त्वपूर्ण' हैं।[47] अतः विट्गेन्स्टाइन के उत्तरकालीन दर्शन में एक तरह का तनाव महसूस किया जा सकता है।

परंतु प्रश्न उठता है कि यह 'गहरी व्याकुलता' आखिर क्यों पैदा होती है? यह महज मनोवैज्ञानिक कारणों से नहीं हो सकती। ऐसा उद्वेलन अंततः सत् के प्रश्न से जुड़ा है। हाइडेगर के आधारभूत तत्त्वमीमांसीय प्रश्न पर विट्गेन्स्टाइन की संवेदनशील प्रतिक्रिया को हम पहले ही देख चुके है। उन्होंने 'सत्ता' और 'चिन्ता' से हाइडेगर के अभिप्राय को संजीदगी से समझा है। यह सत्ता का दबाव ही है जो हमारे भीतर उग्र व्यग्रता पैदा करता है। दरअसल 'भाषा तो भूल–भुलैया है' और वहाँ 'विषय का गहन पक्ष हमें वास्तव में झाँसा दे जाता है।'[48] यही हमारी उद्विग्नता का कारण है जिसे विट्गेन्स्टाइन 'दर्शन की गहनता' कहते हैं। यदि भाषायी प्रतिभासवाद स्वयं में सुगम एवं पर्याप्त होता तो फिर भाषा–विश्लेषण जैसी क्रिया की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

उल्लेखनीय है कि दर्शन के इतिहास में कुछ ऐसे विचारक हुए हैं जिनकी सत् के प्रश्न पर गहरी पैठ रही हैं, जबकि इस मामले में कुछ अन्य विचारकों के सरोकार सतही हैं। तद्नुरूप विट्गेन्स्टाइन ने भी स्पष्ट रूप से विचारकों के बीच 'गहरे' और 'छिछले' का अंतर किया है। कीर्केगार्ड को वे उन्नीसवीं सदी का सबसे गहन विचारक मानते हैं। ह्यूम को उन्होंने कभी नहीं पढ़ा, परंतु उनकी चर्चा छिड़ने पर वे बतलाते हैं कि दर्शन और चतुराई के बीच टाइलर ने जो विभेद किया है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। बर्कले और कांट उन्हें गहरे विचारक लगते हैं। उनकी दृष्टि में एयर के पास कहने के लिए तो कुछ है पर वे अविश्वसनीय रूप से छिछले हैं।[49]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गहरे और छिछले विचारकों के बीच इस विट्गेन्स्टाइन–कृत विभेद का निहितार्थ यह है कि दार्शनिक समस्याओं की जड़े भाषीय व्यवहार तक सीमित नहीं है। उनका सरोकार आखिरकार सत् से है। भले ही हमारी रोजमर्रे की भाषा के औजारों की पहुँच से वह परे है। वास्तव में यह अंतर 'कथन' और 'प्रदर्शन' के विभेद का ही परवर्ती विकास है। जैसा कि ड्रूरी ने भी बतलाया है, "एक छिछला विचारक स्पष्टता से कुछ कहने में सक्षम हो सकता है, परंतु एक गहरा विचारक हमें यह प्रदर्शित कर सकता है कि कुछ ऐसी चीजें हैं जो कथनीय नहीं है।"[50]

(ख)

विट्गेन्स्टाइन के अनुसार, "दर्शन तो भाषा द्वारा हमारी वशीकरण के विरूद्ध संघर्ष है।"[51] परंतु प्रश्न उठता है कि भाषा कैसे हमारी बुद्धि को वशीभूत कर लेती है?

इस संबंध में एस.मोरिस ऐंजेल ने ठीक ही प्रतिपादित किया है कि कांट के दर्शन में एक समानान्तर सिद्धान्त के रूप में संवृत्ति *(फेनोमेना)* ऐसी ही भूमिका अदा करती है। परंतु कांट की वैचारिक योजना में उसकी प्रभावकारी व्याख्या भी सुलभ है। इसके विपरीत विट्गेन्स्टाइन यह तो मानते हैं कि भाषा में एक गजब की सम्मोहनकारी शक्ति है, परंतु वे उसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं करते। वे यह नहीं बतलाते हैं कि हमारी बुद्धि को निरंकुश ढंग से अभिभूत कर देनेवाली उसकी सम्मोहन–शक्ति का आधार क्या है?[52] यह एक ऐसी विकट समस्या है जिसके समक्ष विट्गेन्स्टाइन के उत्तरकालीन दर्शन की व्यावहारवादी और मानवशास्त्रीय व्याख्याएँ टिक नहीं पातीं।

भाषा की भरमानेवाली भूमिका पर विट्गेन्स्टाइन कुछ जगह इशारा भर करते हैं। उन्हें एहसास है कि 'हम अपने प्रतीकवाद के निहितार्थों से खुद को छुटकारा दिलाने में असमर्थ पाते हैं'।[53] वे बतलाते हैं कि 'हमें एक चित्र ने बाँध लिया है।'[54] यह बंधन वास्तव में भाषा के 'व्याकरण' को अनुल्लंघनीय विज्ञान समझ लेने का परिणाम है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो हमें संवृत्तियों को भेदना पडेगा।'[55] दरअसल भाषा ही सांवृतिक सत्य का सबसे मुखर माध्यम है। यहाँ पी.जे. सैहर का मत है कि विट्गेन्स्टाइन के दर्शन में भाषा की भूमिका उसी तरह की है जिस तरह अद्वैत वेदांत की परंपरा में माया की है। (वाचारम्मण विकारो नामधेयम्, मृत्तिकेत्येव सत्यम्)। कोई–न–कोई ऐसी मायावी शक्ति है जिसके वशीकरण के हम शिकार हैं। इस बात से कोई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फर्क नहीं पड़ता कि उसका नाम 'माया' दिया जा रहा है या उसे 'भाषा' कहकर पुकारा जा रहा है। अहम बात यह है कि हम वशीभूत हैं और हमें इस वशीकरण से मुक्ति चाहिए।[56]

यह जो बंधन है वह विट्गेन्स्टाइन और अद्वैत वेदांत दोनों के अनुसार 'सम्मोहन' के स्वरूप की है। तद्नुरूप दोनों में ही मुक्ति का अर्थ कोई नयी वस्तु या अवस्था पा लेना नहीं है। यह तो दृष्टि–परिवर्तन मात्र है। अद्वैत–परंपरा की तरह विट्गेन्स्टाइन भी मानते हैं कि समूची समस्या वास्तव में हमारी समझ पर पड़ी 'गाँठ' की तरह है जिसे खोल देना भर है।[57]

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय
हजारीबाग (झारखंड)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *यह आलेख भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में एसोसिएट के रूप में लगभग एक दशक पूर्व प्रस्तुत मेरे अप्रकाशित शोध–पत्र, "परस्युइंग द पैरेलल्स बिट्वीन विट्गेन्स्टाइनीयन फ़िलोसॉफी एण्ड अद्वैत वेदांत", का सशोधित–संवर्धित रूप है। यहाँ मैंने उसे अपने कुछ परवर्ती प्रकाशनों के आलोक में विकसित करने का प्रयास किया है। द्रष्टव्य, डॉ. रवीन्द्र के.एस. चौधरी, विट्गेन्स्टाइनीयन फिलोसॉफी एण्ड अद्वैत वेदांतः एव सर्वे ऑफ द पैरेलल्स, डी. के. प्रिन्टवर्ल्ड, न. दिल्ली, 2007, पृ. 230*
2. *द्रष्टव्य, रवीन्द्र के.एस. चौधरी, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, 2007, पृ. 15–36*
3. *लु. विट्गेन्स्टाइन, फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस, अनु. अशोक बोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, न. दिल्ली, 1996, पृ. xvi*
4. *उपरिवत्, अनुच्छेद 23 एवं 25*
5. *लु. विट्गेन्स्टाइन, तर्क एवं दर्शन का विवेचन, टैक्टेट्स लॉजिको–फिलोसॉफिकस का डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय कृत हिन्दी अनुवाद, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1971, 4.1212*
6. *पॉल ऐंजेलमैन, लैटर्स फ्रॉम लुडविग विट्गेन्स्टाइन विद ए मैमोएर, बैसिल ब्लैकवेल,आक्सफोर्ड, 1967, पृ. 97*
7. *द्रष्टव्य, एस.एन. गांगुली, विट्गेन्स्टाइनन्स ट्रेक्टेट्स : ए प्रिलिमिनेरी, विश्व–भारती, शांतिनिकेतन, 1968, पृ. 114*
8. *लु. विट्गेन्स्टाइन, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, 1971, 6.522; द्र.,लु. विट्गेन्स्ठाइन, कल्चर एण्ड वैल्यू, अशोक वोहरा (अनु.), "अनुवादकीय निवेदन", भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, न. दिल्ली, 1998, पृ. xxi*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

9. द्रष्टव्य, रश रहीज़ (सं.), लुडविग विट्गेन्स्टाइन : पर्सनल रिकलेक्शन्स, बैसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1981, पृ. 97
10. लु. विट्गेन्स्टाइन, जेटेल, ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1967, अनुच्छेद 453
11. पीटर विंच (सं.), "इंट्रोडक्शन : द यूनिटी ऑफ विट्गेन्स्टाइन फिलोसॉफी" स्टडीज इन विट्गेन्स्टाइन फिलोसॉफी, राउटलेज़ एण्ड केगन पॉल, 1969, पृ.14
12. द्रष्टव्य आर.सी. सोलोमन एण्ड के.एम. हिग्गिन्स, ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ फ़िलोसॉफी, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1996, पृ. 283
13. द्रष्टव्य,एच, एल, आर, फ़िलन्च, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिज़न, खण्ड 15, मैकमिलन, न्यूयॉर्क, पृ. 429
14. द्रष्टव्य, रवीन्द्र के.एस.चौधरी, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, 2007, पृ. 5 और 23
15. उपरिवत्, पृ. 5
16. लु. विट्गेन्स्टाइन, कल्चर एण्ड वैल्यू, पृ. 16
17. लु. विट्गेन्स्टाइन, विट्गेन्स्टाइन एण्ड द वियना सर्किल : कनवर्सेशन्स रिकॉर्डेड बाइ एफ. वैजमैन, ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1979, पृ. 68
18. रवीन्द्र के. एस. चौधरी, "विट्गेन्स्टाइन एण्ड टैगोर", इंडियन फ़िलोसॉफिकल क्वार्टरली, खण्ड 33, सं. 3–4, 2006, पृ. 240
19. रश रहीज़ (सं.) पूर्वोद्धृत ग्रंथ, 1981 पृ. 120
20. ए.जे.एयर, विट्गेन्स्टाइन, वीडेनफेल्ड एण्ड निकोल्सन, लंदन, 1985, पृ. 30–31
21. पी.एम.एस.हैकर, विट्गेन्स्टाइन प्लेस इन द ट्वेन्टिय सेंचुरी एनालिटिक फिलोसॉफी, ब्लैकवेल, आक्सफोर्ड, 1996, पृ. 118
22. लु. विट्गेन्स्टाइन, ट्रेक्टेटस, 1 एवं 1.1
23. उपरिवत्, 6.522, 6.53 और 7
24. याकूब मसीह, शंकराज यूनिवर्सल फ़िलोसॉफी ऑफ रिलिजन, मुंशीराम मनोहरलाल, न. दिल्ली, 1987, पृ. 120
25. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन, भाग 2, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1989, पृ. 433
26. लु. विट्गेन्स्टाइन, ट्रैक्टैट्स, 5.621 और 5.63
27. उपरिवत्, 5.632 और 5.633
28. उपरिवत्, 5.64 और 5.641
29. उपरिवत्, 5.62
30. लु. विट्गेन्स्टाइन, नोटबुक्स 1914–16, एन्सकॉम्बे एण्ड वॉन राइट (सं.), बैसिल ब्लैकवेल ऑक्सफोर्ड, 1961, पृ. 80
31. द्रष्टव्य, बृह. उप. 4.3.6; तथा ब्र. सू. शांकरभाष्य, 2 : 3,7
32. आर. बालासुब्रमण्यन, प्राइमल स्प्रिचुयलिटी ऑफ द वेदाज, आई.सी.पी. आर; न. दिल्ली, 1996, पृ. 16
33. लु. विट्गेन्स्टाइन, नोटबुक्स पृ. 82

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

34. उपरिवत्, पृ. 82 और 85
35. उपरिवत्, पृ. 49, 79 और 80
36. लु. विटगेन्स्टाइन, टैक्टेट्स, 6.45
37. उपरिवत्, 5.5561
38. उपरिवत्, 6.44
39. लु. विट्गेन्स्टाइन, नोटबुक्स, पृ. 74
40. द्रष्टव्य, रे मोंक, लुडविग विटगेन्स्टाइन : द ड्यूटी ऑफ जीनियस, विन्टेज़, बुक्स, लंदन, 1991, पृ. 143
41. लु. विट्गेन्स्टाइन, ट्रैक्टैट्स, 6.371
42. उपरिवत्, 6.521
43. के. टी. फैन, विट्गेन्स्टाइन कनक्पशन ऑफ फिलोसॉफी, बैसिल ब्लैकवेल, आक्सफोर्ड, 1969, पृ. 96
44. लु. विट्गेन्स्टाइन, फ़िलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस, अशोक वोहरा (अनु.) भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, न. दिल्ली, 1996, अनुच्छेद 126 (अनुवाद में थोड़े शाब्दिक हेरफेर किए गए हैं।)
45. लु. विट्गेन्स्टाइन, फिलो. इन्वे. अनुच्छेद 371; और, फिलोसॉफिलकल ग्रामर, रस रहीज़, ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1975, अनुच्छेद 133
46. लु. विट्गेन्स्टाइन, फिलो. इन्वे, अनुच्छेद 90
47. उपरिवत्, अनुच्छेद 111
48. उपरिवत्, अनुच्छेद 203 और 387
49. रस रहीज़ (सं.), पूर्वोद्धृत ग्रंथ, 1981, पृ. 102,121,171 और 172
50. उपरिवत्, पृ. 96
51. लु. विट्गेन्स्टाइन, फिलो. इन्वे. अनुच्छेद 109
52. एस. मोरिस ऐंजेल, विट्गेन्स्टाइन्स डॉक्ट्रिन ऑफ द टिरैनी ऑफ लैंग्वेज़, मार्टिन निजहॉफ द हेग, 1975, पृ. 254
53. लु. विट्गेन्स्टाइन, द ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स, ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1958, पृ.108
54. लु. विट्गेन्स्टाइन, फिलो. इन्वे. अनुच्छेद 115
55. उपरिवत्, अनुच्छेद 90
56. पी. जे. सैहर, इस्टर्न रिलिज़न एण्ड वेस्टर्न थॉट, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि, लंदन, 1969, पृ. 219
57. लु. विट्गेस्टाइन, जेटेल, अनुच्छेद 452; तुलनीय, छांदोग्य उप. 7:26.2

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतिहास, सभ्यता अध्ययन और गाँधी का हिन्द स्वराज

आनन्द मिश्र

प्रस्तुत लेख में मेरा उद्देश्य गाँधी के द्वारा की गयी आधुनिक सभ्यता की आलोचना के सन्दर्भ में 'हिन्द स्वराज' में प्रस्तुत विचारों की समीक्षा करना है। वास्तव में हिन्द स्वराज आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की तीखी आलोचना है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि गाँधी आधुनिक सभ्यता, पश्चिमी सभ्यता, यूरोप की सभ्यता को एकार्थक रूप में लेते हैं। देखा जाए तो यह उचित भी है क्योंकि आधुनिकता के गैर पश्चिमी रूप तब तक सामने ही नहीं आये थे और फिर जिसे आधुनिकता कहते हैं वह पश्चिमी इतिहास का एक कालखण्ड है या उस कालखण्ड का युग बोध। कालखण्ड का विभाजन प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक के रूप में करना पूरी तरह से पश्चिमी ढंग है।

आधुनिक सभ्यता का विनाशकारी रूप गाँधी के लिये पूरी तरह से स्पष्ट है। वह उसके विद्रूप और घिनौने चेहरे को और उजागर करते हैं। वे उन कारणों को विश्लेषित करने का प्रयास नहीं करते हैं जिनके कारण काल के इस मोड़ पर वह सभ्यता इस दुर्दशा को प्राप्त हो रही है। वास्तव में गाँधी का पश्चिमी अनुभव और ज्ञान उन्हें इस निष्कर्ष के लिये तर्क ढूढ़ने को विवश नहीं करता था कि पश्चिमी सभ्यता पतन की ओर ले जाने वाली सभ्यता है। गाँधी से पूर्व जिन लोगों ने आधुनिक सभ्यता की भर्त्सना की थी, गाँधी उनकी आलोचनाओं से परिचित हैं। इनमें से कई एक का ग्रंथ के कलेवर में और कइयों का परिशिष्ट में उल्लेख भी करते हैं। ध्यातव्य है कि आधुनिकता के उदय के साथ ही इसके विरोध का स्वर भी पश्चिम में आरम्भ से ही उठने लगा था। गाँधी से पूर्व 'रोमान्टिसिस्टों' ने आधुनिक सभ्यता और तद्जन्य व्यापक औद्योगिकीकरण और नगरीकरण के कुप्रभावों व बुराइयों की विस्तार से आलोचना की थी। पुनः इसी तरह की आलोचना मार्क्स तथा उसके अनुयायियों ने भी की थी। पूर्व में रूसों द्वारा की गयी 'प्राकृतिक मनुष्य' और 'सभ्यता के बाद का मनुष्य' का अन्तर सब के सम्मुख था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में रूसो से लेकर कॉलरिज, कार्लाइल, मार्क्स तक या चार्ल्स डिकेन्स, बॉल्जेक, टॉमस मॉन से विलियम मौरिस तक या नीट्शे, हाइडेगर, वाल्टर बेन्जामिन से मर्क्यूज तक चिन्तकों, साहित्यकारों की एक पूरी परम्परा पश्चिम के भीतर ही है जो आधुनिक सभ्यता के वीभत्सकारी स्वरूप से पूर्ण परिचित है और उसके खिलाफ खड़ी है। चार्ल्स डिकेन्स के 'हार्ड टाइम्स' या रस्किन के 'ए ज्वाए फॉर एवर' और विलियम मौरिस की 'यूजफुल वर्क वर्सेज यूजलेस ट्वाएल।' को आधुनिक प्रौद्योगिकी और सभ्यता के खिलाफ एक दस्तावेज ही मानना चाहिये। इनमें से रस्किन की पुस्तक का गाँधी हिन्द स्वराज के परिशिष्ट में, टॉलस्टाय की छह पुस्तकों का, थोरो और रस्किन की दो–दो पुस्तको का और कारपेन्टर की एक पुस्तक 'सिविलाइजेशन : इट्स कॉज एण्ड क्योंर' का उल्लेख करते हैं। यद्यपि यहाँ मेरा उद्देश्य न तो गाँधी के चिन्तन पर पाश्चात्य चिन्तकों के प्रभाव को प्रदर्शित करना है और न ही पश्चिमी चिन्तकों से उनकी तुलना प्रस्तुत करना है। मेरा मन्तव्य इतना है कि गाँधी–विचार की सही समझ के लिये ये दोनों ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

जैसा कि पीछे कहा गया है कि आधुनिक सभ्यता किस तरह एक 'रोग' हो चुकी है, यह गाँधी के लिये बिल्कुल स्पष्ट था। स्वयं पश्चिम को अपने इस 'रोग' की चेतना हो चुकी है, यह भी उन्हें साफ दिखायी पड़ रहा था। गाँधी इसीलिये इस रोग के तह में नहीं जाते हैं। वे तो अपने लोगों को बस इस सभ्यता के रोग को दिखाना चाहते हैं ताकि वे इसमें न फँसे। 'हिन्द स्वराज' भारतीय पाठकों के लिये लिखी गयी पुस्तक है भले ही 'हिन्द स्वराज' की रचना लन्दन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हुए जहाज पर हुई हो। गाँधी मानवता के इस बड़े भू–भाग को 'पृथ्वी पर उग रहे मरूस्थल' से बचाना चाहते थे। उनका उद्देश्य पश्चिम से चलने वाली आधुनिकता की प्रचंड आँधी को रोकना था। वे भारतीयों को सचेत करना चाहते थे कि वे इस नई सभ्यता के चकाचौंध में न आयें जो स्वयं में जर्जर हो चुकी है और पतन के कगार पर है। 'हिन्द स्वराज' का लेखक एक लेखक और विद्वान कम, समाज सुधार और सन्त अधिक है, वह एक अहिंसक क्रान्ति का उद्भावक, नेतृत्वकर्त्ता और अपने राष्ट्र का मुक्तिकर्त्ता अधिक है। गाँधी अपने लोगों के लिये मसीहा से कम नहीं थे और हिन्द स्वराज एक मसीहाई उद्बोधन था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हाँलाकि तस्वीर का एक दूसरा भी पहलू है। कइयों को ऐसा लग सकता है कि एक वैचरिक कृति के रूप में हिन्द स्वराज अनुपम है, जिस संवाद शैली में यह लिखी गयी है वह प्लेटो के डायलॉग, उपनिषदों एवं आगमों के संवाद को बरबस ही याद दिलाती है। भाषा और विषय की प्रस्तुति बेजोड़ है तथा आद्योपान्त एक ऐसी वैचारिक संगति है जो किसी मँजे हुए लेखक और विचारक में ही प्राप्त होती है। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की गाँधी द्वारा की गयी तीव्र आलोचना महज अपने पाठकों में आत्मप्रेम और आत्मगौरव की भावना भरने के लिये नहीं है बल्कि यह सभ्यताओं का मूलगामी वैज्ञानिक अध्ययन भी है। यूरोप और शेष विश्व में बाद में होने वाली घटनाओं ने –विशेषकर दो दो विश्वयुद्धों ने गाँधी की प्राक्कल्पना को समर्थित करने का ही काम किया। इसी तरह ओस्वाल्ड स्पेंगलर, टायनबी प्रभृति के अध्ययनों ने बाद में प्रकारान्तर से गाँधी की उपर्युक्त अवधारणा को ही संपुष्ट किया। इस दृष्टि से देखा जाए तो गाँधी के हिन्द स्वराज का अकादमिक महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। अतः आश्चर्य नहीं होता है जब रिचर्ड बी. ग्रेग जैसे लोग गाँधी को एक समाजवैज्ञानिक के रूप में देखते हुए उनके अनेक अवदानों का मूल्यांकन करते हैं।[1] वास्तव में 'हिन्द स्वराज' इस दृष्टि से बेजोड़ है। सभ्यताओं को केन्द्रित कर किये जाने वाले अध्ययनों की कड़ी में यह अग्रतम है। गाँधी 'सभ्यता' को अपने विमर्श के केन्द्र में जिस तरह रखते हैं, वह सामाजिकी और मानविकी के भावी स्वरूप को निर्धारित करने में मील का पत्थर साबित हुआ। 'सभ्यता' या 'सभ्यताओं' को अपने विमर्श के केन्द्र में रखकर गाँधी ने इतिहास और समाजशास्त्र के बीच की दूरी को अपने ढंग से समाप्त किया। वस्तुतः यह अध्ययन की एक नई विधा की ओर तो कदम था ही जो भविष्य में 'सभ्यता' अध्ययन' के नाम से प्रतिष्ठित हुई, वहीं दूसरी ओर इसने इतिहास और ऐतिहासिक अध्ययन को भी नया स्वरूप दिया।

हिन्द स्वराज का मूल प्रतिपाद्य ही सभ्यता विमर्श है। गाँधी के दर्शन को समझने की कुछ महत्त्वपूर्ण कुंजियाँ हैं, कुछ ऐसी अवधारणायें हैं जिनके द्वारा गाँधी के दर्शन को समझने की चेष्टा की जाती है। ये महत्त्वपूर्ण अवधारणायें हैं –सत्य की अवधारणा, अहिंसा की अवधारणा, सत्याग्रह की अवधारणा, स्वदेशी की अवधारणा, स्वराज की अवधारणा, सर्वोदय की अवधारणा। सत्य, अहिंसा, स्वराज, सत्याग्रह, स्वदेशी, सर्वोदय की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवधारणाओं का दार्शनिक आधार हिन्द स्वराज में प्राप्त होता है, फिर भी मैं समझता हूँ कि सभ्यता का अध्ययन ही हिन्द स्वराज का मूल प्रतिपाद्य है। स्वयं गाँधी कहते हैं कि हिन्द स्वराज 'आधुनिक सभ्यता' की तीखी समीक्षा है। गाँधी के ही शब्द में "इस किताब में 'आधुनिक सभ्यता' की सख्त टीका की गयी है। यह 1909 में लिखी गयी थी। इसमें मेरी जो मान्यता प्रकट की गयी है, आज पहले से भी ज्यादा मजबूत बनी है। मुझे लगता है अगर हिन्दुस्तान 'आधुनिक सभ्यता' का त्याग करेगा, तो उससे उसे लाभ ही होगा।" हिन्द स्वराज के कुल बीस अध्यायों में अधिकतर सभ्यता–विमर्श को लेकर ही केन्द्रित हैं। छठे अध्याय का शीर्षक ही 'सभ्यता दर्शन' है तो तेरहवाँ अध्याय 'सच्ची सभ्यता कौन सी?' है। पाँचवें अध्याय 'इंगलैण्ड की हालत' में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के गंभीर दुष्परिणामों का यूरोप के सन्दर्भ में मार्मिक चित्रण है तो आठवें अध्याय में इस सभ्यता के गंभीर दुष्परिणामों को भारतीय सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। गाँधी कहते हैं "मेरी पक्की राय है कि हिन्दुस्तान अंग्रेजों से नहीं, बल्कि आजकल की सभ्यता से कुचला जा रहा हैं"। रेल, वकील, डाक्टर, मशीन और शिक्षा को केन्द्रित कर लिखे गये अध्यायों में आधुनिक सभ्यता के उन सारे महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठानों की समीक्षा की गयी है जिनकी कथित खूबियों के कारण पश्चिमी सभ्यता का जादू लोगों के सर पर चढ़ा हुआ है। वस्तुतः आदि से अन्त तक हिन्द स्वराज का मूल विषय सभ्यताओं का अध्ययन है।

द्रष्टव्य है कि 'हिन्द स्वराज' से गाँधी न केवल विभिन्न सभ्यताओं की तुलनात्मक अध्ययन के पुरस्सर आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की तीव्र आलोचना प्रस्तुत करते हैं बल्कि भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी करते हैं। गाँधी ने विभिन्न सभ्यताओं की तुलना करते हुए जिस तरह पश्चिमी सभ्यता के पतनोन्मुख चरित्र को स्पष्ट किया था वह बाद के स्पेंगलर, टायनबी आदि के अध्ययनों से और पुष्ट हुआ। गाँधी के ही मॉडल पर स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक 'डिक्लाइन ऑफ द वेस्ट' में इतिहास के अध्ययन की इकाई सभ्यताओं को बनाया। स्पेंगलर मानव–इतिहास को आठ प्रमुख संस्कृतियों–सभ्यताओं में विभाजित करते हैं। ये आठ सभ्यतायें हैं– मिस्री, चीनी, सामी, भारतीय, ईरानी, यूनानी, रोमन तथा पाश्चात्य। इन आठ सभ्यताओं के इतिहास विवेचन पुरस्सर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पश्चिमी सभ्यता काल के इस बिन्दु पर पहुँच गयी है जहाँ से उसका पतन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही होना है। आगे अपने दस वाल्यूम के 'ए स्टडी ऑफ हिस्टरी' में टायनबी ने स्पेंगलर के समान ही इतिहास के अध्ययन की इकाई सभ्यता को माना और उसका प्रयोजन सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास तथा पतन का तुलनात्मक अध्ययन बताया। टायनबी ने भी एक तरह से स्पेंगलर के निष्कर्ष से ही सहमति जतायी कि पश्चिमी सभ्यता अवनति के कगार पर है। टायनबी विश्व इतिहास को आठ सभ्यताओं के बजाय तेइस सभ्यताओं में विभाजित करते हैं। वास्तव में स्पेंगलर, टायनबी आदि इस मत के पोषक हैं कि इतिहास के अध्ययन का केन्द्र राष्ट्र या जाति न होकर संस्कृति या सभ्यता होनी चाहिये। यह एक तरह से 'राजनैतिक इतिहास' की अवधारणा से व्यामोह ही था। यहाँ ध्यातव्य है कि हिन्द स्वराज के सत्रहवें अध्याय 'सत्याग्रह–आत्मबल' में गाँधी 'इतिहास' और 'हिस्टरी' के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर करते हुए 'हिस्टरी' की इसलिये आलोचना करते हैं कि यह सिर्फ दुनिया के कोलाहल की कहानी प्रस्तुत करती है। गाँधी के अनुसार जो 'हिस्टरी' है वह वस्तुतः दुनिया के कोलाहल की कहानी हैं; राजाओं–बादशाहों के सत्ता–हस्तान्तरण का वृतान्त है, उनके संघर्षों की कहानी है। हिस्टरी स्वाभाविक बातों को दर्ज नहीं करती है, वह अस्वाभाविक बातों को ही दर्ज करती है। अतः आश्चर्य नहीं होना चाहिये। कि यदि हिस्टरी सत्याग्रह को 'नोट' नहीं करती है क्योंकि सत्याग्रह स्वाभाविक है; प्रेम, सौमनस्यता, शान्ति स्वाभाविक है। हजारों वर्षों से लोग मेल–जोल से रहते आ रहे हैं, 'हिस्टरी' इसको 'नोट' नहीं करती। हाँ, जहाँ यह प्रेम की धारा टूटती है, रूकती है वह 'हिस्टरी' का विषय हो जाती है। 'हिस्टरी' का भारतीय अनुवाद 'इतिहास' है जिसका अर्थ 'ऐसा हो गया' है। यदि 'हिस्टरी' को इतिहास के रूप में लें तो सत्याग्रह के कई प्रमाण दिये जा सकते हैं, ऐसा गाँधी का मानना है।

हम देख सकते हैं कि इतिहास–दर्शन की दृष्टि से हिन्द स्वराज कितना महत्त्वपूर्ण है। गाँधी न केवल इतिहास और हिस्टरी के बीच के अन्तर को स्पष्ट करते हैं जिस पर बाद के भारतीय विद्वानों ने बार–बार बल दिया है अपितु इतिहास (हिस्टरी के अर्थ में) के केन्द्र में आम–जन को रखते हैं, उसकी सभ्यता और संस्कृति को रखते हैं। सभ्यता–विमर्श को अपने अध्ययन का केन्द्रबिन्दु बनाकर गाँधी इतिहास के उस भावी स्वरूप की पटकथा लिखते हैं जिसमें उसका उद्देश्य सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास और पतन का तुलनात्मक अध्ययन करना हो जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हिन्द स्वराज में गाँधी विश्व की छह सभ्यताओं की तुलना में भारतीय सभ्यता को श्रेष्ठ बताते हैं। भारतीय सभ्यता के अतिरिक्त जिन छह सभ्यताओं की वे चर्चा करते हैं, वे हैं– रोम, ग्रीस, मिस्र, जापान, चीन और पश्चिमी सभ्यता जो उनके लिये यूरोपीय सभ्यता या आधुनिक सभ्यता का ही अपर नाम है। गाँधी मुख्य रूप से आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और भारतीय सभ्यता के तुलनात्मक विमर्श द्वारा पश्चिमी सभ्यता के पतनोन्मुख स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी तीव्र आलोचना प्रस्तुत करते हैं और तुलना में भारतीय सभ्यता को श्रेष्ठतर पाते हैं।

गाँधी को आधुनिक सभ्यता के विनाशकारी स्वरूप की पूरी चेतना है। वे इस बात् से पूरी तरह से अवगत हैं कि किस प्रकार यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली है और स्वयं नाश के कगार पर खड़ी है। सभ्यता को 'रोग' मानने के बावजूद गाँधी यह भलीभाँति जानते थे कि इसका आकर्षण इतना प्रबल है कि व्यक्ति जब तक इसके मोह–पाश में बँधा रहता है तब तक इसमें सब कुछ अच्छा ही देखता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो यह सभ्यता पूरी तरह से माया है। सभ्यता के मोह–पाश से छूटने के बाद ही व्यक्ति को इसकी वास्तविकता का बोध होता है कि इसका परिणाम कितना भयावह है। गाँधी कहते हैं "नींद में आदमी जो सपना देखता है उसे वह सही मानता है। जब उसकी नींद खुलती है तभी उसे अपनी गलती मालूम होती है। ऐसी ही दशा सभ्यता के मोह में फँसे हुए आदमी की होती है।"[2]

वस्तुतः 'भोग'का आकर्षण ही कुछ ऐसा होता है। पश्चिमी सभ्यता भोग को ही मानव जीवन का ध्येय समझती है। इस 'भोग' के लिये नित नए–नए उन्नत साधनों को जुटाती है। पर भोग तो भोग से कतई शान्त नहीं होता है। फलतः भोग की तीव्र लालसा अन्त में दुःख को ही जनती है, अपने साथ हताशा, कुण्ठा, चिन्ता, अवसाद आदि को लाने के लिये अभिशप्त होती है। गाँधी कहते हैं "शरीर का सुख कैसे मिले यही आज की सभ्यता ढूढ़ती है और यही देने की कोशिश करती है। परन्तु वह सुख भी नहीं मिल पाता है। यह सभ्यता तो अधर्म है और यह यूरोप में इतने दरजे तक फैली है कि वहाँ के लोग आधे पागल जैसे देखने में आते हैं। उनमें सच्ची कूबत नहीं है, वे नशा करके अपनी ताकत कायम रखते हैं। एकान्त में वे बैठ नहीं सकते।"[3] पश्चिमी सभ्यता के साथ गाँधी जो सबसे अधिक बुराई देखते हैं वह यह है कि व्यक्ति के आध्यात्मिक और नैतिक स्वभाव के साथ न्याय नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करती है। वह आध्यात्मिक सुख और उसकी तलाश के बदले बाह्य जगत् के अन्वेषणों में ही उलझी रहती है तथा शारीरिक सुख को ही चरम पुरूषार्थ मानती है। और भी स्पष्ट कहें तो यह सभ्यता भोग को ही जीवन का चरम ध्येय समझती है, परम पुरूषार्थ मानती है। काम एवं अर्थ को पुरूषार्थ मानने में वैसे कोई बुराई है भी नहीं। बुराई तब होती है जब वह धर्म और नीति के अंकुश के बिना हो। और जब ऐसा हो जाता है तब वे अपने लक्ष्य को पाने में भी असफल हो जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से पश्चिम का मनुष्य आज चिन्ता, हताशा, कुण्ठा, असहाययता, एकाकीपन से इतना संत्रस्त है कि गाँधी कहते है कि "वहाँ के लोग आधे पागल जैसे देखने में आते हैं"। वास्तव में भौतिक सुख को न तो व्यक्ति का आदर्श बनाया जा सकता है और न समाज का। भौतिक सुख को व्यक्ति का आदर्श बनाने का क्या भयावह परिणाम हो सकता है, यह तो ऊपर बताया ही गया, समाज का आदर्श बनाने पर भी इस ध्येय की पूर्ति नहीं हो पाती है। गाँधी कहते हैं "जिन स्त्रियों को घर की रानी होनी चाहिये, उन्हें गलियों में भटकना पड़ता है या कोई मजदूरी करनी पड़ती। इंग्लैण्ड में ही चालीस लाख गरीब औरतों को पेट के लिये सख्त मजदूरी करनी पड़ती है।"[4]

जैसा कि ऊपर बताया गया, पश्चिमी सभ्यता के विरूद्ध गाँधी की मुख्य आलोचना यह है कि वह उत्कट भोग को ही जीवन का चरम ध्येय मानती है और तदनुरूप ही सारे संसाधनों का समायोजन करती है, यह भोग–विलास और भौतिकता को प्रश्रय देती है तथा आध्यात्मिकता का तिरस्कार करती है। यह अधर्म और नास्तिकता को बढ़ावा दे रही है तथा अनीति और अनैतिकता को प्रोत्साहित करती है। गाँधी के अनुसार यह सभ्यता आत्मा की महाशत्रु है। यह उन चीजों के नकार पर आधारित है जो मनुष्य की आत्मा के लिये आधारभूत हैं। वास्तव में गाँधी का मानना है कि मनुष्य मूलतः एक आध्यात्मिक प्राणी है। आत्मज्ञान तथा आत्मसाक्षात्कार मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य है। अब सही सभ्यता वह है जो व्यक्ति को इस ओर ले चले, स्वयं अपने से उन्मुख कराये। गाँधी कहते हैं "सभ्यता वह आचरण है जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने के मानी है नीति का पालन करना। नीति के पालन का मतलब है अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना । ऐसा करते हुए हम अपने को (अपनी असलियत को) पहचानते हैं। यही सभ्यता है। इससे जो उल्टा है वह बिगाड़ करने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाला है।"[5] जाहिर है, सभ्यता की इस कसौटी पर कसने पर गाँधी जहाँ आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का बिगाड़ करने वाली पाते हैं वही भारतीय सभ्यता को अतुलनीय और उत्कृष्टतम पाते हैं। गाँधी कहते हैं "मैं मानता हूँ जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखायी है, उस तक दुनिया में कोई नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोये हैं, उनकी बराबरी कर सके ऐसी कोई चीज देखने में नहीं आयी। रोम मिट्टी में मिल गया, ग्रीस का सिर्फ नाम ही रह गया, मिस्र की बादशाही चली गयी, जापान पश्चिम के शिकंजे में फँस गया और चीन का कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन गिरा–टूटा जैसा भी हो, हिन्दुस्तान आज भी अपनी बुनियाद में मजबूत है।"[6]

भारतीय सभ्यता की इस बुनियादी मजबूती का कारण क्या है? गाँधी के अनुसार यह इसलिये क्योंकि यह नीति और धर्म पर आधारित है। भौतिक प्रगति के बदले यह आत्मिक उन्नति को जीवन का चरम ध्येय मानती है। भौतिक सुख–सुविधा और भोग के बदले संयम एवं संतोष को जीवन का मूल मंत्र मानती है। गाँधी के अनुसार भारतीय मानस को इस बात की चेतना थी कि भोग की तुष्टि नहीं होती है अपितु भोग की लालसा और तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। अतः आवश्यकता है इस भोग की बेलगाम लालसा को नियन्त्रण में रखा जाए। इसको ध्यान में रखते हुए जीवन जीने के ढंग और उसकी बुनियादी साधनों से कोई छेड़छाड़ नहीं की जाय। हजारों सालों से उन्हीं हल से काम किया जाता रहा, उन्हीं झोपड़ियों को आवास बनाया गया, शिक्षा की पुरानी व्यवस्था कायम रखी गयी, भौतिक जीवन के सुखोपभोग को बढ़ाने वाले उपकरणों, यन्त्रों और सुविधाओं की जानबूझ कर अवहेलना की गयी। नगरीकरण को जानबूझकर हतोत्सहित किया गया, छोटे देहातों से ही संतुष्ट रहा गया। ऐसा नहीं था कि भारतीय इसके विपरीत नहीं कर सकते थे, पर उन्होंने समझा कि जीवन के सुखोपभोग को बढ़ाने वाली सुविधाओं, उपकरणों, यन्त्रों, संसाधनों को इकठ्ठा करने का अर्थ होगा अधर्म और अनीति को बढ़ावा देना। यह होड़ अन्त में दुःखदायी ही साबित होगी, ऐसा हमारे पूर्वज जानते थे।

गाँधी आधुनिक सभ्यता को सम्पूर्णतः खारिज करते हैं। इस अर्थ में गाँधी की आलोचना अन्य आलोचनाओं से भिन्न है। मार्क्स को इस सभ्यता के पूंजीवादी स्वरूप से वितृष्णा हैं, उसे औद्योगिकीकरण, नगरीकरण आदि प्रक्रिया से कोई शिकायत नहीं है, बल्कि वह तो इनको प्रोत्साहित ही करना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहेगा ताकि क्रान्ति की भूमि तैयार हो। गाँधी आधुनिक सभ्यता व उसके समस्त प्रतिष्ठानों को –उसकी आर्थिकी,राजनीति–तन्त्र व प्रणाली, कानून व विधि, विज्ञान व तकनीक, शिक्षा और चिकित्सा प्रणाली, संचार आदि सबको– पूरी तरह से अस्वीकार करते हैं। रेल, वकील, डाक्टर,, शिक्षा और मशीन को केन्द्रित कर लिखे गये अध्यायों में हम देख सकते हैं कि गाँधी किस तरह आधुनिक सभ्यता की हर उस प्रतिष्ठान की आलोचना करते हैं जिसके लिये उसका गुणगान किया जाता है। यंत्रों एवं तकनीक का प्रयोग किस तरह व्यक्ति को अपने उत्पाद से, अपने साथियों से, प्रकृति से और सबसे बढ़कर स्वयं अपने से दूर कर देता है, यह गाँधी के लिये पूरी तरह स्पष्ट था। मशीनों का उपयोग न केवल पूंजीपतियों के लोभ को बढ़ावा देता है, उन्हें मजदूरों का शोषण करने का अवसर प्रदान करता है तथा रोजगार के अवसर कम कर देता है, बल्कि अन्ततः वह मनुष्य को अपाहिज, आलसी, अकर्मण्य और रूग्ण बना देता है, लोगों की दिनचर्या को मशीनी बना देता है और प्रकृति के सामरस्य से खिलबाड़ करता है। गाँधी 1909 में ट्राम गाड़ियों और बिजली के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत करते हैं, काश यदि दुनिया उस पर चलती तो पर्यावरण–असन्तुलन का वीभत्सकारी संकट आज उपस्थित ही नहीं होता। मैं तो समझता हूँ कि पर्यावरण–वैज्ञानिकों को हिन्द स्वराज का पाठ बाइबिल की तरह करना चाहिये। गाँधी 100 वर्ष पूर्व आगाह करते हैं, "यंत्र का गुण तो मुझे एक भी याद नहीं आता, जबकि उसके अवगुणों पर मैं पूरी किताब लिख सकता हूँ" ।[7] उसी अध्याय में वे कहते हैं "मशीनें यूरोप को उजाड़ने लगी हैं और वहाँ की हवा अब हिन्दुस्तान में चल रही है। यंत्र आज की सभ्यता की मुख्य निशानी है वह महापाप है, ऐसा मैं तो साफ देख सकता हूँ।"[8]

गाँधी ने वकालत और डाक्टरी के पेशे की तीव्र आलोचना की है। हिन्द स्वराज के दो अध्याय इस विषय को समर्पित हैं। गाँधी का मुख्य तर्क है कि ये व्यवसाय मूलभूत मानवीय कमियों को अपनी आजीविका का साधन बनाती हैं। रोग और कलह जीवन का स्याह पहलू है। डाक्टर और वकीलों का पेशा ही इस पर टिका हुआ है। एक वकील का पेशा यह कहता है कि कलह बढ़े, इस पर टिका हुआ है। वकालत जहाँ व्यक्ति के 'स्वराज' में हस्तक्षेप करने वाले राजतन्त्र को वैधानिक जामा पहनाती है वहीं चिकित्सा की आधुनिक पद्धति व्यक्ति में निहित रोग से प्रतिरोध करने की स्वाभाविक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शक्ति का ह्रास करती है, जीव–जन्तुओं पर अमानवीय प्रयोग करती है। देखा जाए तो ये दोनों ही व्यवसाय अनीति को बढ़ावा देते हैं। फिर गाँधी का यह भी मन्तव्य था कि पेशा के रूप में सभी पेशे बराबर के हैं, चाहे डाक्टरी का हो, वकील का हो या नाई का। शरीर श्रम पर बौद्धिक श्रम को वरीयता नहीं दी जा सकती।

यदि वकीलों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को वैधानिक जामा पहनाने में मदद की तो रेलों ने वह ढाँचागत संसाधन प्रदान किया जिसके कारण ब्रिटानी हुकूमत पूरे देश पर राज्य करने में सक्षम हो सकी। गाँधी रेलों की इसलिये आलोचना तो करते ही हैं कि इसके कारण ब्रिटिश सरकार विश्व के बड़े भाग में बर्बर राज्य को कायम रख सकी, पर गाँधी की रेल के प्रति वितृष्णा कहीं और गहरी है। गाँधी का विश्वास है कि रेल मनुष्य की शान्त–सन्तुष्ट जीवन शैली में अनावश्यक का हस्तक्षेप करते हैं। अच्छाई तेजी में नहीं धीमें चलने में हैं। रेल वस्तुतः बुराईयों को ही फैलाते हैं, दुष्टता को बढ़ावा देते हैं, पवित्र स्थानों को अपवित्र बनाते हैं। वास्तव में पश्चिम से जो सभ्यता की आँधी आयी हैं, रेल आदि संचार साधन उनको सुदूर क्षेत्रों तक फैला रहे हैं। इसीलिये गाँधी कहते हैं कि यदि आपको सच्चा हिन्दुस्तान देखना है तो वहाँ जाकर देखिये जहाँ रेलगाड़ी नहीं पहुँची है।

वास्तव में गाँधी का मानना है कि मनुष्य की विशेष ढंग की शारीरिक बनावट उसे एक परिवेश की हद में बाँध देती है। मनुष्य को उस हद में रहना चाहिये। गाँधी इसीलिये आत्मनिर्भर ग्राम की अवधारण के साथ आते हैं, ग्राम स्वराज की बात करते हैं। हिन्द स्वराज वस्तुतः ग्राम स्वराज है। गाँधी का स्वराज गाँवों के लिये है, किसानों के लिये है। गाँधी कहते हैं "मनुष्य इस तरह पैदा किया गया है कि अपने हाथ–पैर से जितनी बने उतनी ही आने–जाने वगैरा की हलचल उसे करनी चाहिये। अगर हम रेल बगैरा साधनों से दौड़–धूप करें ही नहीं तो बहुत पेचीदे सवाल हमारे सामने आयेंगे ही नहीं। .... भगवान ने मनुष्य की हद उसके शरीर की बनावट से ही बाँध दी लेकिन मनुष्य ने उस बनावट की हद को लाँधने के उपाय ढूँढ़ निकाले" ।[9]

जैसा कि पीछे बताया गया, भारतीय सभ्यता की बुनियादी मजबूती गाँधी इस बात में देखते हैं कि यह भोग के बदले संयम और त्याग के महत्त्व को, सुखोपयोगी यंत्रों और उपकरणों के बदले शरीर–श्रम के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महत्त्व को, बड़े–बड़े नगरों के बदले छोटे देहातों के महत्त्व को पहचान पायी। इस सभ्यता के पुरोधा इसके पूर्वज इस बात को पहचान सके कि सही सभ्यता की कुंजी स्वराज में निहित है। स्वराज जिसका अर्थ होता है अपने ऊपर राज। सुख–दुःख तो आखिर मन का खेल है। अमीर अपनी अमीरी से सुखी और गरीब अपनी गरीबी के कारण दुःखी नहीं है। भोग भोगने से भोग की तुष्टि नहीं होती अपितु भोगैषणा और प्रबल होती है। अतः भोग की वासना का त्याग ही श्रेयस्कर है। संयम और संतोष को जीवन का मूलमन्त्र बताया गया और ऐसा आचरण करते हुए आत्मसाक्षात्कार करने को जीवन का लक्ष्य बताया गया। हमारे सारे प्रयास इसी को लेकर नियोजित होने चाहिये। दुनियाबी सुखों का बखेड़ा खड़ा करना; नाशकारक होड़ को समाज में जगह देना अन्त में दुखदायी ही साबित होता है, हमारे पुरखों को इन बातों की चेतना थी। इसीलिये जीवन जीने के परम्परागत ढंग से कोई छेड़छाड़ नहीं की गयी। हजारों सालों से उसी हल से काम लिया जाता रहा, उन्हीं झोपड़ियों को आवास बनाया गया, शिक्षा की पुरानी व्यवस्था ही कायम रखी गयी, भौतिक जीवन के सुखोपभोग को बढ़ाने वाले उपकरणों, यन्त्रों और सुविधाओं की जानबूझकर, अवहेलना की गयी। नगरीकरण को हतोत्साहित किया गया। ऐसा नही था कि भारतीय इसके विपरीत नहीं कर सकते थे, पर उन्होंने समझा कि जीवन के सुखोपभोग को बढ़ाने वाली सुविधाओं, उपकरणों, यन्त्रों और संसाधनों को इकठ्ठा करने का अर्थ होगा अधर्म और अनीति को बढ़ावा देना। यह बेतहाशा होड़ अन्त में दुःखदायी ही साबित होगी। उपर्युक्त वजहों से हजारों सालों से चली आ रही सभ्यता को यथावत कायम रखा गया, उसमें कोई फेरबदल नहीं किया गया, कोई छेड़रवानी नहीं की गयी। सभ्यता का यह अक्षुण्ण और अक्षत रूप गाँधी के अनुसार हिन्दुस्तान के गाँवों में मौजूद है। तभी तो गाँधी कहते हैं कि सच्चा हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है। किसान ही असली भारतीय है। यह किसान पूरी तरह से अपनी जीवन का मालिक है,नीति एवं धर्म का अनुसरण करता है। उसके पास सच्चा स्वराज है। देखा जाए तो उस पर कोई राज नहीं करता; न अंग्रेज और न हम, आप।

हजारों सालों से जो सभ्यता पूरी मजबूती से टिकी रही उसमें किसी तरह का छेड़छाड़ गाँधी को स्वीकार नहीं है। गाँधी को अंग्रेजों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोई शिकायत नहीं हैं, उन्हें उस अंग्रेजी सभ्यता से शिकायत है जो हिन्दुस्तान में फैल रही है। गाँधी कहते हैं "मेरी पक्की राय है कि हिन्दुस्तान अंग्रेजों से नहीं, बल्कि आजकल की सभ्यता से कुचला जा रहा है, उसकी चपेट मे वह फँस गया है। उससे बचने का अभी भी उपाय है, लेकिन दिन पर दिन समय बीतता जा रहा है"।[10] गाँधी का 'हिन्द स्वराज' पश्चिमी सभ्यता के कुप्रभावों से हिन्दुस्तान को बचाने का एक प्रयास है। गाँधी अंग्रेजों से नहीं अपितु अंग्रेजी सभ्यता के दंश से देश को बचाना चाहते थे। उन्हें इस बात का अंदेशा था कि कथित आधुनिक सभ्यता के चकाचौंध में हिन्दुस्तानी भी न फँस जाए। इससे भी अधिक उन्हें इस बात का भय था कि 'स्वराज' के वास्तविक तात्पर्य से अपरिचित इस देश का कथित शिक्षित वर्ग और राजनैतिक नेतृत्व ऐसे स्वराज की प्राप्ति की दिशा में प्रयत्नशील न हो जो अपने चरित्र में तो अंग्रेजियत लिये हो पर जिसका नेतृत्व हिन्दुस्तानियों के हाथ में हो। गाँधी कहते हैं कि आपको "अंग्रेजी राज्य तो चाहिये, पर अंग्रेज (शासक) नहीं चाहिये। आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं, लेकिन बाघ नहीं चाहते। मतलब यह हुआ कि आप हिन्दुस्तान को अंग्रेज बनाना चाहते हैं। और जब हिन्दुस्तान अंग्रेज बन जाएगा तब वह हिन्दुस्तान नहीं कहा जाएगा, लेकिन सच्चा इंगालिस्तान कहा जाएगा। यह मेरी कल्पना का स्वराज्य नहीं हैं।"[11]

हुआ वही जिसकी गाँधी को आशंका थी। हम राजनीतिक रूप से स्वतंत्र तो हो गये पर पुरानी व्यवस्था कायम रही, अंग्रेज तो चले गये पर, अंग्रेजियत बनी रही। हमने पूरी तरह से अंग्रेजों की व्यवस्था–सभ्यता–को अंगीकार कर लिया, उनकी राजनीति, अर्थव्यवस्था, विधिव्यवस्था, शिक्षा, चिकित्सा, विज्ञान, तकनीक और सबसे अधिक इन सबको प्राण देने वाली वह *सोच* जो मनुष्य की सिर्फ ऐन्द्रिक भोक्ता मानती है व प्रकृति को उसका उपभोग्य, जो व्यक्ति की इन्द्रिय–संवेदनाओं की तुष्टि में ही जीवन का परम–पुरुषार्थ देखती है और तद् हेतु जीव, जन्तु, मनुष्य आदि समस्त प्रकृति और प्राकृतिक तत्त्वों, समाज व सामाजिक व्यवस्था को उसका साधन मानती है, उनका समायोजन करती है, *उस सोच* को अपना बना लिया।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221005

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. देखें, रिचर्ड बी. ग्रेग का लेख, गाँधीजी एज ए सोशल साइन्टिस्ट एण्ड सोशल इन्वेन्टर, एस. राधाकृष्णन् द्वारा संपादित पुस्तक 'महात्मा गाँधीः एस्सेज एण्ड रिफ्लेक्शन्स ऑन हिज लाइफ एण्ड वर्क' में संग्रहित, जैको पब्लिशिन्ग हाऊस, बम्बई, 1956, पृ. 57।
2. गाँधी जी, हिन्द स्वराज, अनु. अमृतलाल ठाकोरदास, नाणावटी, पृ 34।
3. हिन्द स्वराज पृ. 36।
4. देखें, वहीं, पृ. 36।
5. हिन्द स्वराज, पृ. 55।
6. वहीं, पृ. 54।
7. हिन्द स्वराज,पृ. 85।
8. वहीं, पृ. 82।
9. हिन्द स्वराज, पृ. 45।
10. हिन्द स्वराज, पृ. 39।
11. हिन्द स्वराज, पृ. 30।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुलनात्मक धर्म-दर्शन के उन्नायक आचार्य
प्रोफ़ेसर के. सच्चिदानन्द मूर्ति

अशोक वोहरा

आचार्य कोट्टा सच्चिदानन्द मूर्ति का निधन 24 जनवरी, 2011 को आन्ध्रप्रदेश के जिला गुंटूर में सुदूर स्थित अपने पैतृक गाँव संगम जगलर्मुडि में हो गया। वे अपने पीछे तीन पुत्र छोड़ गए हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत के इस अनुपम दार्शनिक ने दर्शन और दर्शन–समाज के लिए प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से जैसा भी योगदान किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। आईये एक बार पुनः उनको स्मृतियों के झरोखे से जीवन्त करने का प्रयास करें।

कोट्टा सच्चिदानन्द मूर्ति का जन्म आन्ध्र प्रदेश के एक समृद्ध कृषक परिवार में 25 सितम्बर, 1924 को हुआ था। उच्च अध्ययन में प्रवेश से पूर्व ही वे संस्कृत का गहन अध्ययन कर चुके थे। उनकी पहली पुस्तक तेलुगु भाषा में भगवद्गीता पर विशुद्ध व्याख्या थी। यह पुस्तक 500 पृष्ठों से भी अधिक की थी। इसका प्रकाशन 1941 में हुआ था। उनकी यह व्याख्या संस्कृत, तेलुगु और अंग्रेजी में लिखित तीस से भी अधिक रचनाओं पर आधारित थी। उस समय उनकी आयु मात्र 16 वर्ष की थी। सन् 1946 में आंध्र विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र में एम. ए. करने के तुरन्त बाद ही वे अध्ययन, मनन एवं ग्रंथ–लेखन के कार्य में जुट गए। स्नातकोत्तर शिक्षा पूरी करने के एक वर्ष बाद ही सन् 1947 में, उनकी पुस्तक 'हिन्दुइज़्म एण्ड इट्स डिवेलपमेन्ट' प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् सन् 1951 में उनके दो ग्रंथ प्रकाशित हुए। इनमें से पहले ग्रंथ 'रिदम ऑफ द रिएल' में उन्होंने सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, तत्त्वमीमांसा और इतिहास–दर्शन जैसे विषयों की विवेचना की। उनका दूसरा ग्रंथ थॉट 'एण्ड द डिवाइन' था जिसमें उन्होंने प्राकृतिक ईश्वरमीमांसा का वर्णन किया। इन दोनों कृतियों में उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों और शंकर व अनेक अन्य भारतीय दार्शनिकों के विचारों का विवेचन करने के साथ–साथ अरस्तू, संत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आगस्टीन, संत एक्विनास और बुनावंतुरा इत्यादि पाश्चात्य मनीषियों के विचारों का भी विवरण एवं विश्लेषण किया।

सन् 1973 में प्रकाशित अपने ग्रंथ 'द रिअल्म ऑफ बिटवीन' में उन्होंने धर्म–दर्शन में संबंधित इन समस्याओं का पुनर्विवेचन किया। सन् 1965 में प्रकाशित 'इण्डियन स्पिरिट' तथा 'इण्डियन फिलॉसफी सिंस 1498' उनकी दो अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। इनमें से पहली पुस्तक में मूर्ति ने श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी के विचारों की समालोचना करते हुए भारत के सांस्कृतिक इतिहास की मीमांसा प्रस्तुत की है। दूसरी पुस्तक में उन्होंने सशक्त तर्क के साथ स्थापित किया कि यह सोचना गलत है कि सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के बीच भारत में दार्शनिक चिन्तन सक्रिय नहीं था। 1498 से राजा राममोहन राय तक की विविध रचनाओं का सर्वेक्षण करते हुए वे यह स्थापित करते हैं कि वस्तुतः इस अवधि में उच्चस्तरीय एवं गहन दार्शनिक गतिविधियां अबाध रूप से चलती रहती थीं। सच तो यह कि मूर्ति दर्शन को भारतीय और पाश्चात्य रूप में पृथक् करके देखने के ही विरूद्ध थे।

अपने जीवनकाल में उन्होंने अंग्रेजी में पच्चीस से अधिक, तेलुगु में ग्यारह, एवं हिन्दी में एक पुस्तक लिखी। उनके प्रत्येक ग्रंथ को पाठकों ने एक श्रेष्ठ कृति में सराहा। 'रीज़न एण्ड रिवीलेशन इन अद्वैत वेदान्त' (1959), 'अद्वैतिक नोशन' (1985) और 'वैदिक हरमैन्युटिक्स' (1993) नामक उनकी कृतियों को उनके प्रशंसकों एवं आलोचकों, दोनों ने क्लासिक (युगीन कृति) माना है।

मूर्ति की रचनाएँ युगांतकारी हैं। उनका सकल लेखन रूढ़िभंजक है। वे अपने लेखन में आस्था, परंपरा के प्रति अपनी श्रद्धा को अक्षुण्ण रखते हुए भी नूतन परिप्रेक्ष्यों और परिदृश्यों को आधिकारिकता के साथ प्रस्तुत करते हैं। अद्वैत वेदान्त के कुछ ही मर्मज्ञ इस परंपरा की वैसी आलोचना कर सकते हैं जैसी मूर्ति ने अपनी पुस्तक 'रीज़न एण्ड रिवीलेशन इन अद्वैत वेदान्त' में की है। साथ ही यह जानना रूचिकर होगा कि मूर्ति ने अपनी पुस्तक 'अद्वैतिक नोशन' में अद्वैत–परंपरा का ऐसा प्रशस्त व्याख्यान किया है जैसा शायद ही इस परंपरा के किसी व्याख्याता ने शायद ही कभी किया हो। बर्ट्रेंड रसेल और कार्ल यास्पर्स के साथ मुलाकात और उनके साथ हुए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संवादों के परिणामस्वरूप उन्होंने अपने चिन्तन और लेखन को नया आयाम दिया। इसी के फलस्वरूप उन्होंने भारतीय संस्कृति और शांति–अध्ययन जैसे संबंधित दर्शनेतर विषयों पर लेखन किया। इन ग्रंथों के साथ–साथ उनके पुरोधा–ग्रंथ 'फॉर ईस्ट्रन फिलॉसफीज' में उनके मौलिक विचार, आलोचनात्मक विश्लेषण और नूतन एवं गहन तुलना–दृष्टि परिलक्षित होती है। मूर्ति का लेखन भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के विविध आयामों को चित्रित करता है। इस चित्रण में नीतिशास्त्र, धर्म–दर्शन,राजनीतिक चिन्तन, संस्कृति, शांति–अध्ययन, धर्मसंबंधी अध्ययन, शिक्षा–दर्शन और भारतीय विदेशनीति के दार्शनिक आधार जैसे विषय अवलोकित होते हैं। सार्वजनिक भाषणों के साथ–साथ विशेषज्ञों के बीच दिए गए उनके वक्तव्यों को समझना कठिन नहीं होता था। उनकी प्रस्तुतियाँ और स्थापनाएँ सुबोध,सुगम और सरल होती थीं। इसका कारण यह नहीं था कि वे सामान्य और साधारण बातें कह रहे होते थे बल्कि ऐसा इसलिए था कि वे पूरी आधिकारिकता के साथ कठिन से कठिन बात को सुगम शैली में प्रस्तुत कर रहे होते थे। उनके व्याख्यान प्रायः हास्यबोध के प्रकरणों से भरे होते थे।

अपने से वरिष्ठ एवं समकालीन सहकर्मियों पर मूर्ति की गहरी छाप पड़ी। सन् 1963 में जब मूर्ति चालीस वर्ष के भी नहीं हुए थे, उस समय के शिक्षामंत्री हुमायुँ कबीर, जो कि स्वयं जाने माने शिक्षाविद् चिन्तक एवं विश्लेषक थे, ने उनके बारे में कहा था कि वे नयी पीढ़ी के उत्कृष्ट दार्शनिक हैं। सन् 1970 में लब्धप्रतिष्ठ भाषावैज्ञानिक सुनीति कुमार चटर्जी ने मूर्ति को "डॉ. राधाकृष्णन का सुयोग्य उत्तराधिकारी" घोषित किया था। मीमांसा–दर्शन के बीसवीं सदी के महान पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री ने सन् 1980 में उनका वर्णन 'नानाशास्त्रप्रक्षालितमतिवैभव" कह कर किया। सन् 1988 में दिल्ली में उत्तर भारत के चर्च के मेट्रोपोलिटन ने उन्हें 'मेरे देश के अग्रणी दार्शनिक" के रूप में वर्णित किया था। सन् 1989 में सुप्रसिद्ध जैन मुनि आचार्य तुलसी ने मूर्ति के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए कहा था, "प्रोफेसर मूर्ति में शालीनता और कार्य करने की जो लगन मैंने देखी वैसी विरले व्यक्तियों में ही पाई जाती है। आज के युग में जिसे हम प्रामाणिकता (Honesty) कहते हैं, यत्र–तत्र ही सुनने को मिलती है।" सैय्यद वाहिदुद्दीन ने सन् 1994 में उनके बारे में कहा था "ऐसे प्रज्ञावान लोग कम होते हैं जो रोजमर्रे की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्य घटनाओं से ऊपर उठे होते हैं और जो अतीत और समकालीन अस्तित्व के बारे में अपने ज्ञान से जगत् को सर्जनात्मक अवदान देते हैं। प्रोफेसर के. सच्चिदानन्द मूर्ति ऐसे ही मनीषी हैं। हमारे देश में ऐसे कम ही बुद्धिजीवी हैं जो हमारे जटिल किन्तु अखण्ड संयुक्त राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व उनसे बेहतर करते हैं। ऐसे किसी अन्य वरिष्ठ भारतीय दार्शनिक के बारे में कल्पना करना कठिन है जिसने भारत की शास्त्रीय दर्शन–पद्धतियों पर विशेषज्ञता प्राप्त करने के साथ ही इस्लामी, चीनी और जापानी आदि अन्य संस्कृति–दर्शनों का भी इतना व्यापक अध्ययन किया हो।" इसीलिए इनकी गणना तुलनात्मक धर्म–दर्शन के उन्नायक आचार्यों में की जानी चाहिए।

मूर्ति ने सन् 1940 के दशक के आरंभ में आन्ध्र विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्रवक्ता के रूप में अपना अध्यापकीय जीवन आरंभ किया। यही वह विश्वविद्यालय था जहाँ उन्होंने दर्शन–शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। 60 वर्ष की आयु में सेवानिवृत होने तक मूर्ति ने इस विश्वविद्यालय में 35 वर्ष अध्यापन किया। इस बीच सन् 1975 से 1978 तक तीन वर्षों के लिए उन्होंने श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति के कुलपति पद को भी अलंकृत किया। कुलपति के रूप में उन्होंने विश्वविद्यालय में नए पाठ्यक्रम आरंभ किए, अनेक शैक्षणिक सुधार किए और विश्वविद्यालय में विविध संसाधनों का विकास किया। उन्होंने 'शान्ति एवं अहिंसा' अध्ययन केन्द्र तथा मानव एवं समाजविकास केन्द्र' की स्थापना की। उनके कार्यकाल के दौरान ही पारंपरिक पंडितों और आधुनिक विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित विद्वानों के बीच पहला संवाद आयोजित किया गया था।

वे भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के 'नेशनल फैलो' थे। सन् 1996 से 1999 तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उपाध्यक्ष थे। वे सन् 1980 से 1998 तक इण्डियन फिलॉसॉफिकल कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। सन् 1984 में उन्हें डॉक्टर बी. सी. राय नेशनल अवार्ड दिया गया। भारत में दर्शनशास्त्र में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को दिए जाने वाले इस पुरस्कार को प्राप्त करने वाले पहले दार्शनिक थे। उन्हें सोवियत संघ की सोवियत एकेडमी ऑफ साइन्सेज़ ने डॉ फिल. एच. सी. की उपाधि प्रदान की। जर्मनी के हॉल विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद डाक्टरेट की उपाधि से सुशोभित किया। भारत सरकार ने शैक्षणिक योगदान के लिए उनको सन् 1884 में पद्मभूषण, तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन् 2001 में पद्मविभूषण से अलंकृत किया। उनका अंतिम बार दिल्ली आना इस पुरस्कार को ग्रहण करने के लिए ही हुआ था।

पहले 1988 से 1991 तक, और फिर बाद में 1992से 1995 तक मूर्ति भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के सदस्य रहे। वे सन् 1981 से 1984 तक परिषद् की प्रबन्ध समिति के सदस्य रहे। वे सारनाथ में स्थित केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन संस्थान के अध्यक्ष रहे। पीपल्स युनिवर्सिटी ऑफ चाइना ने उन्हें अपना ऑनरेरी प्रोफेसर बनाकर सम्मानित किया। जवाहरलाल विश्वविद्यालय ने भी उन्हें ऑनरेरी प्रोफेसर नियुक्त किया। अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानद डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की। इनमें से सबसे पहली उपाधि उन्हें सन् 1980 में प्रदान की गयी। इसके बावजूद कि उन्होंने अद्वैत वेदान्त, वर्णाश्रम व्यवस्था, और वेदों में वर्णित बातों पर अटूट विश्वास और उन्हें सदा सही मानने का घोर खण्डन किया उन्हें शृंगेरी पीठ के शंकराचार्य ने, और भारत के लगभग सभी संस्कृत विश्वविद्यालयों ने कई बार सम्मानित किया। इन दोनों को शास्त्रसम्मतता का गढ़ माना जाता है। इसी प्रकार मार्क्स, मार्क्सवाद और साम्यवादी तानाशाही की कड़ी निन्दा और मार्क्सवादी दल के कार्ड होल्डर या उनकी विचारधारा के अनुयायी न होने के बावजूद साम्यवादी देशों के अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानद उपाधियों से सम्मानित किया।

सन् 1992 में उनके दर्शन पर अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी आयोजित की गई थी। स्वयं मूर्ति इस गोष्ठी में आद्योपान्त उपस्थित रहे। गोष्ठी में उनके दार्शनिक योगदानों पर विशद चर्चा हुई। गोष्ठी के समापन सत्र में मूर्ति ने सभी लेखों पर अपनी अधुनातन टिप्पणियाँ की। न तो गोष्ठी के आयोजन में और न ही पुस्तक के प्रकाशन में उन्होंने कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप किया। गोष्ठी के निर्देशकों एवं पुस्तक के संपादकों को उन्होंने केवल यह कहा कि "गोष्ठी में आमंत्रित ऐसे व्यक्ति को, जिसने या तो आपके पत्र का उत्तर नहीं दिया, या फिर गोष्ठी के लिए आलेख लिखने का वादा करने के बावजूद समय पर आलेख नहीं भेजा, आप कभी भी दुबारा पत्र नहीं लिखें। कन्फ्यूशियस के पारस्परिक लेन–देन सिद्धान्त का पालन करें। यदि आप संयोगवश किसी ऐसे व्यक्ति से मिलें तो भी इस बारे में उससे कोई चर्चा न करें।" इस गोष्ठी में प्रस्तुत आलेखों में से चयनित लेखों को संशोधन के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपरान्त सन् 1995 में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया। यह पुस्तक 'द फिलॉसफी ऑफ के. सच्चिदानन्द' मूर्ति के नाम से आज दर्शन–जगत् को उपलब्ध है। पुस्तक की गुणवत्ता के कारण स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस, न्यूयॉर्क ने इस की 800 प्रतियाँ खरीद लीं।

मूर्ति का सान्निध्य प्राप्त करने वाले लोग जानते हैं कि वे गंभीर विद्वान्, सशक्त लेखक, श्रेष्ठ अध्यापक और कुशल प्रशासक होने के साथ–साथ अनेक प्रीतिप्रद गुणों के धनी भी थे। साधारण मुलाकातों के दौरान भी इस बात को परख लेना आसान था कि वे अप्रतिम हाजिर–जबावी, और अद्वितीय हास्य–बोध से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी कटाक्षपूर्ण टिप्पणियाँ प्रभावशाली होती थीं। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि" –संस्कृत की यह लोकोक्ति उन पर सटीक बैठती है। नारियल के समान वे ऊपर से कठोर किन्तु भीतर से कोमल एवं सरल थे। कई बार तो मुझे ऐसा लगता था कि वे चाटुकारों को दूर रखने के लिए ही अपना कठोर रूप लोगों के सामने प्रदर्शित करते थे।

मेरी उनसे प्रथम मुलाकात सन् 1977 में हुई। उस समय वे "द फिलॉसफी इन इण्डियन ट्रेडिशसं : टीचिंग एण्ड रिसर्च" नामक परियोजना पर कार्य कर रहे थे। इस परियोजना में मेरी संभावित भूमिका एवं योगदान पर चर्चा करने के लिए उन्होंने मुझे इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में अपने कमरे में बुलाया था। उन्होंने मुझे इस परियोजना के बारे में विस्तार से बताया। परियोजना की समाप्ति पर मुझे मिलने वाले मानदेय के बारे में भी मुझे सूचित किया। इस बात को मेरे सामने रखने का उनका जो ढंग था वह मुझे एक बार तो सपाट एवं उद्धत लगा। उनके साथ बिताए समय के साथ–साथ मुझे यह पता चलता गया कि यह उनकी विशिष्ट शैली है। उन्होंने 'परियोजना की समाप्ति' शब्दों का बल देकर कई बार कहा कि मेरा मानदेय मुझे परियोजना की समाप्ति पर ही दिया जाएगा। उनका प्रयोजन मेरे अनुबंध की शर्तों को मुझे पूरी तरह स्पष्ट करना था। मुझे यह बात अजीब लगी। शायद मैं इस प्रकार के बेबाकपन का आदी नहीं था। उनके साथ तीस वर्षों से भी अधिक के अपने संपर्क में धीरे–धीरे मुझे यह पता चल गया कि वे सिद्धान्ततः किसी भी बात को आरंभ में ही सुस्पष्ट कर देना चाहते थे। वे बाद में किसी तरह की असहमति,मतभेद और गलतफहमियाँ नहीं चाहते थे। परियोजना से संबंधित अपनी रिपोर्ट उनको प्रेषित करने के एक सप्ताह के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्दर ही मुझे अपने मानदेय का ड्राफ्ट प्राप्त हो गया। कुछ समय बाद सन् 1985 में परियोजना के परिणाम पुस्तकाकार में प्रकाशित हुए। परियोजना में मूर्ति की सहायता करने वाले व्यक्तियों के नाम एवं उनकी भूमिका के प्रति आभार प्रकट किया गया था। उनके साथ अपने सुदीर्घ संपर्क में मैंने देखा कि वे अपनी शैक्षणिक एवं अन्य गतिविधियों में सहायता करने वाले सभी लोगों का सादर आभार व्यक्त करते थे। चाहे वे लोग उनसे कितने भी कनिष्ठ क्यों न हो। जहाँ तक काम का प्रश्न है वे एक कठोर नियोजक थे। किन्तु निजी संबंधों में वे सौहार्दपूर्ण व्यक्ति थे। अपने सहकर्मियों की किसी भी निजी समस्या के निदान के लिए वे तत्पर रहते थे। उनके सहकर्मी और अधीनस्थ काम के समय उनसे त्रस्त रहते थे। किन्तु अपने एवं अपने परिवार के प्रति उनके प्रीतिपूर्ण व्यवहार के कारण उन्हें प्यार भी करते थे। उन्हें यह देखकर सुखद आश्चर्य होता था कि मूर्ति को उनकी निजी समस्याओं के बारे में बिना बताए पहले से ही पूर्ण जानकारी रहती थी।

अपनी दिल्ली आने की सूचना वे मुझे सदैव एक पोस्टकार्ड से दिया करते थे। वे मुझे मिलने के लिए अपने रहने के स्थान पर बुलाया करते थे। अपने मित्रों और सहयोगियों के साथ उनका व्यक्तिगत संपर्क का माध्यम हमेशा पोस्टकार्ड ही होता था। कभी–कभार वे अंतरदेशीय पत्र का भी प्रयोग कर लेते थे। पर शायद ही कभी उन्होंने अपने पत्र लिफाफे में प्रेषित किए हों। वे मुझसे अपने हाल ही में किए गए कार्यों – अधिकतर शैक्षिक कार्यों –पर चर्चा करते थे और अपनी पिछली भेंट के बाद मेरे द्वारा लिखे गए लेखों, या फिर लिखे जा रहे लेखों पर चर्चा करते थे। अधिकतर हमारी चर्चा समकालीन भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक समस्याओं पर होती थी। उन्होंने ही मुझे भारतीय दर्शन पर चिन्तन, मनन एवं लेखन के लिए प्रेरित किया। यह तो स्वाभाविक ही था कि बातचीत के दौरान हम भारतीय दर्शन–संसार के बारे में टीका–टिप्पणियाँ करते थे। उन्हें यह गप–शप अच्छी लगती थी। गप–शप भी वे उतनी ही गंभीरता से करते थे जितनी गंभीरता से महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं पर। समकालीन भारतीय दर्शन संसार में घटित होने वाले घटनाओं, व्यक्तित्त्वों एवं व्यक्तियों के छुट–पुट पहलुओं तक का उनका ज्ञान देखकर मै चकित रह जाता था। उनकी सूचनाओं को आधिकारिक पाना और भी अधिक विस्मित करता था। अपने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिल्ली प्रवास के दौरान अधिकतर वे इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में ठहरा करते थे। इस दौरान हम लगभग हर शाम मिलते थे। कभी–कभी वे मुझे स्वयं के प्रयोग के लिए या अपने घर ले जाने के लिए बाजार से कुछ लाने को कहते थे। पहुँचने के तुरन्त बाद सबसे पहले वे समान की कीमत पूछते और इससे पहले कि मैं बैठ भी पाता, वे मेरे हाथों में पैसे थमा देते थे।

अपने लेन–देन में वे पूर्णतः स्पष्ट रहना चाहते थे। ये बात प्रोफेसर जे. पी. शुक्ला भी अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं। शुक्ला और मूर्ति को एक बार दिल्ली से हरिद्वार जाना था। रेल में उनकी सीट आरक्षित नहीं हो पाई। इसलिए उन्हें टैक्सी से हरिद्वार जाना पड़ा। टैक्सी से उतरने के पहले ही मूर्ति ने टैक्सी के तयशुदा किराए का आधा भाग शुक्ला जी के हाथों में रख दिया।

किसी भी व्यक्ति को अपना सहयोगी या मित्र बनाने से पूर्व मूर्ति उस व्यक्ति को अनेक प्रकार से जाँच परख लेते थे। वे और मैं 'राधाकृष्णनःहिज़ लाइफ एण्ड आइडियाज़' नामक ग्रंथ के सहलेखक थे। इससे पहले कि वे मुझे सहलेखक के रूप में स्वीकारते, उन्होंने मुझे मेरी प्रकाशित पुस्तक 'विट्गेन्स्टाइन फिलॉसाफी ऑफ माइण्ड' और मेरे अन्य प्रकाशित लेखों को उन्हें देने के लिए कहा। तब मुझे यह मालूम नहीं था कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। मेरी पुस्तक और लेखों को प्राप्त करने के लगभग दस दिन बाद उन्होंने मुझे अपने घर पर बुलाया। उन दिनों वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उपाध्यक्ष थे, और दिल्ली में ही रहते थे। बैठक में प्रवेश करते ही मैंन देखा कि मेरी पुस्तक और लेख मेज पर पड़े हैं। बैठक में फर्नीचर न के बराबर था। उन्होंने मेरे लेखन से संबंधित विषयों पर कातिपय चर्चा की। चर्चा के उपरांत उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मैं राधाकृष्णन पर उनके साथ एक ग्रंथ का सहलेखन करना चाहूँगा। स्वाभावतः मैं इसके लिए तुरंत सहमत हो गया। सच तो यह है कि मैंने मूर्ति का सहलेखक बनने के अवसर को एक सौभाग्य माना। मेरे हाँ कहते ही उन्होंने मुझे इस विषय से संबंधित अनेक पुस्तकें, और वर्षों से संग्रहित संकलित अनेक लेख और अपने द्वारा लिए गए नोट्स मुझे दे दिए। पुस्तक की पाण्डुलिपि की तैयारी के दौरान मैंने उनकी कार्य–शैली को निकटता से देखा। वे मेरे विचारों का आदर करते थे। मुझसे विशद चर्चा के बाद ही वे पाण्डुलिपि में अपेक्षित सुधार करते थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मेरी सहमति के बिना वे उसमें कोई परिवर्तन नहीं करते थे। जब मैं अपने विचारों पर अडिग रहता और वे मेरे विचारों को तर्कपूर्ण पाते तो बेहिचक वे उन्हें स्वीकार करते। पाण्डुलिपि को अंतिम रूप, जैसा कि हमने पुस्तक की भूमिका में लिखा हैं, "दोनों ने गहन विचार–विमर्श के पश्चात्"ही दिया है। उनके साथ इस प्रकार के गहन विचार–विमर्श के क्षण मेरे लिए सचमुच अविस्मरणीय हैं। वे क्षण मेरे जीवन की अमूल्य निधि हैं। पाण्डुलिपि की संक्षिप्त और संशोधित संस्करण तैयार करने में भी हमने इसी विधि का पालन किया। मूल पाण्डुलिपि अजंता प्रकाशन, दिल्ली से, संक्षिप्त पाण्डुलिपि ओरियन्ट पेपरवैक्स से, और संशोधित पाण्डुलिपि स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस, न्यूयॉर्क से प्रकाशित हुई।

दिल्ली में अपने निवास–स्थान पर आगन्तुको को वे सदा ही दक्षिण–भारतीय आंध्रीय भोजन ही खिलाते थे। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता था कि उनके अतिथि भारतीय हैं या विदेशी। भोजन सदा उनकी पत्नी स्वयं बनाती थीं। बाजार से खरीदी का काम भी वे स्वयं करती थीं। जब उनसे पूछा जाता कि वे इतना लेखन, पठन एवं चिन्तन कैसे कर पाते हैं तो वे कहते कि वे न तो क्लब और रेस्टोरेंट में जाते हैं, न टैनिस और क्रिकेट खेलते हैं, यहाँ तक कि घर का कोई कार्य भी नहीं करते। घर का कार्य उन्होंने पूरी तरह अपनी पत्नी पर छोड़ रखा था। वे अपना सारा समय लेखन, पठन और चिन्तन में लगाते थे।

उनकी पत्नी, का देहान्त उनसे कुछ वर्ष पूर्व हुआ था। पत्नी के स्वर्गवास पर आए एक शोक संदेश के जबाव में उन्होंने लिखा था, "मेरी पत्नी का नाम वेदवती था। वे मुझे हमेशा राग–द्वेष से मुक्त होने का परामर्श देती थीं। उन्होंने मुझे इन दोनों दोषों से मुक्त होने का उपाय भी सुझाया था। उनके साथ और उनके निरन्तर आग्रह के कारण मैं द्वेष से मुक्त हो गया किन्तु उनके अथक प्रयास के बावजूद, मैं बहुत चाहने पर भी राग पर विजय प्राप्त नहीं कर पाया"।

मूर्ति की इस स्वीकारोक्ति की सत्यता का प्रमाण उनका दैनंदिन व्यवहार है। जब वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उपाध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हो गए, और धीरे–धीरे स्वयं को प्रशासनिक कार्यों से विलग करने लगे तो उनके एक ऐसे 'मित्र' ने उनकी उपेक्षा करनी शुरू कर कर दी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिसने वस्तुतः उनके कृपापूर्ण प्रभाव का उपयोग अपनी वैयक्तिक उन्नति के लिए किया था। इस 'मित्र' ने कभी स्वयं उन्हें कहा कि "किसी ने कभी भी मेरी उतनी सहायता नहीं की जितनी आपने।" स्वाभाविक था कि मूर्ति ऐसे व्यवहार से दुखी होते। वे अपने परिचितों से अक्सर उस मित्र के ऐसे व्यवहार की शिकायत करते थे। फिर भी इस मित्र के प्रति उनके मन में कोई दुर्भाव नहीं था।

राग पर धीरे–धीरे विजय पाने की उनकी असफलता को इस बात से भी जाना जा सकता है कि एक बार जब वे एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय की चयन–समिति के सदस्य थे तो उन्होंने नौकरशाही एवं राजनीति में अच्छी–खासी पैठ रखने वाले दो प्रत्याशियों का चयन न करके ऐसे प्रत्याशी का चयन किया जिसको उस चयन समिति ने उन दोनों की तुलना में कहीं अधिक योग्य पाया। चयनित प्रत्याशी के अध्यापन–अनुभव, प्रकाशित रचनाओं एवं उसके उच्चस्तरीय शोध–पत्रों के साथ–साथ, साक्षात्कार में प्रस्तुति को चयन–समिति ने चयन का आधार बनाया था। चयन–समिति के निर्णय की सूचना उक्त दो प्रत्याशियों को उनके परिचित ऐसे सदस्य से मिली जो समिति में विषय के विशेषज्ञ के रूप में नहीं थे। उन्होंने कुलपति को चयन–समिति के इस निर्णय के विरूद्ध पत्र लिखा। इस शिकायत में उन्होंने कहा कि चयन–समिति के विषय के विशेषज्ञ के रूप में उपस्थित सदस्य भारतीय दर्शन के विद्वान थे और वे उनका सही मूल्यांकन नहीं कर पाए हैं। इसलिए उन्होंने कुलपति से माँग की कि चयन–समिति के निर्णय को विश्वविद्यालय की कार्यकारी परिषद् द्वारा निरस्त किया जाए। उन्होंने इस पत्र की प्रतियाँ कार्यकारी परिषद् के सदस्यों में भी वितरित की। उनको मूर्ति एवं अन्य सदस्यों की पाश्चात्य दर्शन पर पैठ का पता नहीं था। संभवतः वे इस बात से अपरिचित थे कि इन विद्वानों ने पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन पर भी उच्चस्तरीय कार्य किए थे। ऐसे निराधार एवं द्वेषपूर्ण आरोपों से कौन दुखी नहीं होता। फिर मूर्ति जैसे संवेदनशील एवं न्यायप्रिय व्यक्ति का इससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। यह सब जानकर वे यह सोचने पर मजबूर हो गए थे कि प्रत्याशी ऐसे व्यवहार से अपनी ओछी मानसिकता का प्रदर्शन कर रहे थे। वे ऐसा करके स्थापित नियमों एवं व्यवस्थाओं से प्रतिकूल बर्ताव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर रहे थे। इन प्रत्याशियों की ऐसी रुग्ण मानसिकता एवं अशोभनीय हरकत को उन्होंने विश्वविद्यालयों के गिरते मानकों एवं उनमें अध्यापन के लिए आने वाले प्रत्याशियों के अशिष्ट व्यवहार का प्रतिमान माना। वे इतने उद्विग्न हो गए कि उन्होंने भविष्य में कभी भी साक्षात्कार समितियों में न जाने का निश्चय किया। और सचमुच उसके बाद मूर्ति कभी भी किसी चयनसमिति में नहीं गए।

मूर्ति मित्रों के मित्र थे। वे विभिन्न प्रकार से अपने मित्रों की, बिना बताए सहायता करते थे। यद्यपि वे इस बात का भी ध्यान रखते थे कि ऐसा करते हुए भी वे नियमों का अतिक्रमण न करें। वे अपने द्वारा की गई सहायता का कभी प्रदर्शन नहीं करते थे। वे इसकी कभी चर्चा तक नहीं करते।

प्रशासनिक बैठकों में भी वे कम ही बोलते थे। अपनी इच्छाओं और निर्णयों को दूसरों पर थोपने की उनकी आदत न थी। बैठकों में वे अनासक्त भाव से भाग लेते थे। फिर भी यह महत्त्वपूर्ण है कि वे बैठक की समग्र कार्यवाही को सचेत और पैनी दृष्टि से देखते थे। यदि उन्हें लगता कि कोई गलत निर्णय लिया जाने वाला है तो वे अपनी सीधी–सपाट और तीखी आवाज में अपने मन की बात सदस्यों के सामने रख देते। उनकी तार्किक एवं तथ्यात्मक बातों के समक्ष समिति के सदस्य झुक जाते थे और इस तरह गलत निर्णय होने से बच जाते। वे ऐसा इसलिए कर पाते थे क्योंकि वे बैठक में आने से पहले उससे संबंधित मुद्दों की तैयारी कर लेते थे। बैठक में आने से पहले वे कार्यावली को पूरी तरह पढ़ते थे, उसमें उठाए गए विषयों की छीन–बीन करते थे और उन पर विचार करते थे। उनके बारे में सुस्पष्ट न होने पर व संबंधित व्यक्तियों अथवा अधिकारियों से पूछताछ करने में भी हिचकते नहीं थे। उनकी अध्यक्षता में सम्पन्न होने वाली बैठकों में भाग लेना एक सुखद अनुभव होता था। बैठक के आरंभ में ही वे बैठक के विषयों का स्पष्ट, सुबोध एवं संक्षिप्त सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत कर देते थे। वे सभी सदस्यों को, बैठने के क्रम में विषयों पर अपनी बात कहने का अवसर देते थे। किसी को भी वे अपनी बात कहने से नहीं रोकते थे। किन्तु चर्चा के दौरान किसी भी वक्त किसी सदस्य को वे विषय से भटकने की अनुमति नहीं देते थे। अंत में वे बैठक में चर्चित विभिन्न मतों एवं विषयों पर हुए निर्णयों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को लेखबद्ध कर देते थे। मुझे किसी ऐसी बैठक की याद नहीं है जिसमें किसी सदस्य को उनके द्वारा बनाए गए बैठक की कार्यवाही के सारांश पर कोई आपत्ति हुई हो।

सार्वजनिक जीवन से स्वयं को दूर रखने के निर्णय के बाद अनेक आमंत्रणों के बावजूद उन्होंने कभी भी किसी सार्वजनिक कार्यक्रम में भाग नहीं लिया। किसी भी चयनसमिति की बैठक में, किसी भी कार्यशाला, गोष्ठी, परिसंवाद इत्यादि में उन्होंने भाग नहीं लिया, न ही कहीं पर कोई भाषण दिया। वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सन्यास–आश्रम में वर्णित जीवन–शैली के अनुसार वे अपने पैतृक गाँव संगम जगलर्मुदि में अपने पिता द्वारा निर्मित महलनुमा दोमंजिले घर में एक ऋषि की भाँति रहने लगे। उन्होंने न तो विशाखापट्टनम में, जहाँ उन्होंने अपने जीवन का अधिकतर भाग बिताया न दिल्ली में, जहाँ वे कुछ समय के लिए रहे,कोई जमीन–जायदाद खरीदी, न कोई भवन बनवाया। न ही कोई साज समान खरीदा। घर में उनकी किताबों का ढेर जमीन पर पड़ा रहता था। यह ढेर चादर से ढका रहता था। किताबों को रखने के लिए उनके पास न तो बुककेस था, न कोई अलमारी। आन्ध्र विश्वविद्यालय में वे दर्शन–शास्त्र के मानद आचार्य थे किन्तु यहाँ के विद्यार्थियों को, अथवा समीपस्थ आचार्य नागार्जुन के विद्यार्थियों अथवा अध्यापकों को भी, वे कभी–कभार ही मिलते थे। नागार्जुन विश्वविद्यालय संगम जगलर्मुडि से लगभग बीस किलोमीटर की दूरी पर है। इस विश्वविद्यालय में एफ्रो–एशियन दर्शनों के अध्ययन के लिए एक विशेष केन्द्र' है। यह अध्ययन केन्द्र प्रो. के.एस.मूर्ति के नाम पर ही स्थापित हुआ है। इसमें भारतीय, चीनी एवं अफ्रीकी दर्शनों पर अध्ययन की विशेष व्यवस्था है। मूर्ति इस विश्वविद्यालय के बौद्ध अध्ययन केन्द्र के मानद निर्देशक भी थे।

जैन परंपरा में वर्णित संल्लेखना पद्धति का अनुसरण करते हुए उन्होंने पहले तो धीरे–धीरे अपने भोजन की मात्रा कम कर दी, और अक्सर अनाहार व्रत करने लगे। अंततोगत्वा अपनी मृत्यु से लगभग एक सप्ताह पहले उन्होंने अन्न और जल दोनों को ही त्याग दिया था।

के. सच्चिदानन्द मूर्ति एक प्रामाणिक व्यक्तित्व थे। उन्होंने एक आदर्श जीवन जिया। वे दूसरों को जैसी शिक्षा देते थे, वैसे ही अपना जीवन भी जीते थे। वे दूसरो को वैसी ही शिक्षा देते थे जिसमें उनका विश्वास था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वे एक सुहृद व्यक्ति होने के साथ–साथ एक आदर्श पुरुष थे, आदर्श विद्वान् थे, आदर्श साथी थे, आदर्श मित्र थे। यही विशेषताएँ उन्हें अपने समकालीनों की तुलना में उच्चतर और गौरवपूर्ण पद प्रदान करती हैं। जनवरी 24, 2011 को हुए उनके निधन से जो स्थान रिक्त हुआ है उसकी भरपाई करना कठिन होगा।

दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारत-भारती के प्रतिसंस्कर्त्ता
प्रोफ़ेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे

यशदेव शल्य

मैं स्वयं को उन अति स्वल्प व्यक्तियों में परिगणित कर सकता हूँ जिन्हें पाण्डे जी के आत्मीयों में माना जाता था। उनकी आत्मीयता मुझे जून 1965 में जयपुर आने के अनतिकाल पश्चात् ही प्राप्त हो गयी थी। हम सायं भ्रमण हेतु प्रायः साथ-साथ जाते और कई बार घंटों साथ बैठकर चर्चा करते थे। इसे मैं अपना बहुत बड़ा सौभाग्य कह सकता हूँ, क्योंकि पाण्डे जी न केवल देश के प्रतिष्ठित विद्वानों में परिगणित थे प्रत्युत वे मौलिक विचारक के रूप में भी उतने ही समादृत थे। इन सब के उपरान्त भी अत्यन्त सहज, सरल, निष्कपट एवं निर्मल ह्रदय थे। वे बहुभाषाविद् थे और अंग्रेजी के साथ-साथ संस्कृत पर भी उनका ऐसा असाधारण अधिकार था कि उसमें वे न केवल सहज ही सम्भाषण कर सकते थे प्रत्युत आशुवक्तृत्व भी प्रस्तुत कर सकते थे। संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध उनकी प्रसिद्ध पुस्तकों 'भक्ति दर्शन विमर्शः' एवं 'सौन्दर्य दर्शन विमर्शः' में उनका पाण्डित्य तो स्पष्टतः परिस्फुटित होता ही है साथ ही साथ अद्भुत विचार क्षमता एवं महती सूक्ष्मेक्षिका का सहज निदर्शन भी प्राप्त होता है। इस कथन में अतिरञ्जना प्रतीत हो सकती है किन्तु पाण्डे जी के विषय में यह शब्दशः सत्य है। वास्तव में वे इस युग के ऐसे शास्त्र-सिद्ध मुनि-कल्प सारस्वत मनीषी थे कि जिनके लिए 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम' की उक्ति सर्वथा सटीक बैठती है। उनकी विद्वत्ता तो लोक विश्रुत थी किन्तु वे उच्चकोटि के कवि भी हैं, यह उतना विदित नहीं था। उनकी हिन्दी-कविताओं के चार संग्रह और संस्कृत-कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हैं और ये कवितायें वास्तव में एक रससिद्ध कवि की भावोद्दीप्त निर्झरिणी के अजस्र प्रवाहवत् निसर्गतः प्रसूत हैं। उनके हिन्दी काव्य-संग्रहों के नाम 'अग्निबीज', 'क्षण और लक्षण', 'हंसिका' और 'जया' हैं तथा संस्कृत काव्य संग्रहों के नाम 'भागीरथी' और 'अस्ताचलीयम' हैं। 'अस्ताचलीयम्' वास्तव में अंग्रेजी कवियों की कविताओं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का संस्कृत में पद्यबद्ध अनुवाद है। उनकी विचार–प्रवण और मौलिक रचनाओं में– 'स्टडीज इन दि ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म', 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास', 'श्रामणिज्म एण्ड इट्स इम्पैक्ट ऑन इण्डियन कल्चर', लेक्चर्स ऑन जैनिज्म', 'जैन पॉलिटिकल थॉट', 'फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन', 'दि मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर', 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर', 'एन एप्रोच टु इण्डियन कल्चर', 'शंकराचार्य–विचार और सन्दर्भ', 'मूल्य मीमांसा', 'अपोह सिद्धि', 'न्याय बिन्दु', 'भक्ति दर्शन विमर्शः', 'सौन्दर्य दर्शन विमर्शः', 'लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य', 'वैदिक संस्कृति', 'कॉन्सियसनेस वैल्यू कल्चर', 'समकालीन भारतीय संस्कृति' और 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', इत्यादि प्रमुख हैं। उत्कृष्ट कोटि के विद्वान और कवि होने के अतिरिक्त हिन्दी, अंग्रेजी एवं संस्कृत जैसी लोकप्रचलित भाषाओं के साथ–साथ पाली और प्राकृत जैसी लुप्तप्राय भाषाओं में भी उनकी अप्रतिहत गति थी। अकादमिक क्षेत्र में पाण्डे जी ने उच्चतम पदों को विभूषित किया है। राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के इतिहास और भारतीय संस्कृति विभाग के अध्यक्ष और आचार्य पद पर नियुक्ति से पूर्व वे इसी पद पर गोरखपुर विश्वविद्यालय में रहे। राजस्थान विश्वविद्यालय में आचार्य पद पर रहते हुए ही वे इस विश्वविद्यालय के कुलपति भी हो गए थे। पुनः वे कुछ वर्षों बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति होकर चले गए थे। इसके अतिरिक्त वे भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के प्रथम राष्ट्रीय फेलो, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस के अध्यक्ष (पाली सत्र), इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर सोसायटी के अध्यक्ष, इण्डियन आर्कियोलॉजिकल सोसायटी के प्रेसीडेन्ट, इण्डियन आर्ट हिस्ट्री कांग्रेस के अध्यक्ष जैसे अनेक सम्मानास्पद पदों पर भी रहे। उन्होंने राष्ट्रीय संग्रहालय, इलाहाबाद; भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला तथा केन्द्रीय उच्च तिब्बती अध्ययन संस्थान, सारनाथ, वाराणसी के अध्यक्ष पद (मानद) के कर्त्तव्यों का भी कुशलतापूर्वक निवाह किया। किन्तु अकादमिक क्षेत्र के ये उच्चतम पद उनको गौरवान्वित करने वाले नहीं कहे जा सकते, क्योंकि विद्वान् और चिन्तक के रूप में वे इतने महान् और विख्यात थे कि उनसे ये पद ही गौरवान्वित हुए न कि स्वयं वे इन पदों से।

पाण्डे जी को अपनी सारस्वत–साधना के सुफल के रूप में अनेकविध महनीय सम्मानों एवं मानद उपाधियाँ भी प्राप्त हुई। शंकर सम्मान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व प्रथम विज्ञान दर्शन संम्मान प्राप्त करने का सुयश आपको ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त वे 'मूर्तिदेवी पुरस्कार', 'नरेश मेहता स्मृति वाङ्मय सम्मान व जीवन की अन्तिम बेला में 'पद्म श्री' सम्मान प्राप्त कर यशोभागी बने। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय एवं गोरखपुर विश्वविद्यालयों ने आपको डी.लिट् की मानद उपाधि प्रदान कर मानो स्वयं के सम्मान का सवंर्धन किया। इसी क्रम में आपको विद्या वारिधि (नालन्दा), वाक्पति (सारनाथ), साहित्य वाचस्पति (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) एवं महामहोपाध्याय (लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ) जैसी स्पृहणीय उपाधियों से विभूषित होने का गौरव प्राप्त हुआ।

पाण्डे जी का अवसान पूर्णायु व्यतीत कर नहीं हुआ, यह सारस्वत जगत् के लिए हृदयदाही शल्य तुल्य विपाक है क्योंकि यदि वे अपने पाञ्चभौतिक कलेवर में कुछ काल और अवस्थित रहते तो हमें उनके वाग्–विग्रह रूप कतिपय अन्य मानस सन्ततियों के आस्वादन का सुफल प्राप्त हो सकता था, तदपि जो कृतियाँ वे हमें प्रदान कर गए हैं वे गणना और गुणवत्ता में कथमपि न्यून नहीं हैं। पाण्डे जी आज भले ही कीर्ति–शेष हो गए हों किन्तु अपनी अलौकिक साहित्य सम्पदा द्वारा वह मानव–जाति को चिरकाल तक मार्गदर्शन देते रहेंगे। भारत–भारती के प्रतिसंस्कर्त्ता और प्राच्य परम्परा के इस प्रहरी को मरो शत–शत नमन!!!

।। कीर्तियस्य स जीवतिः ।।

पी–51, मधुवन पश्चिम
किसान मार्ग, जयपुर, 302015

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053